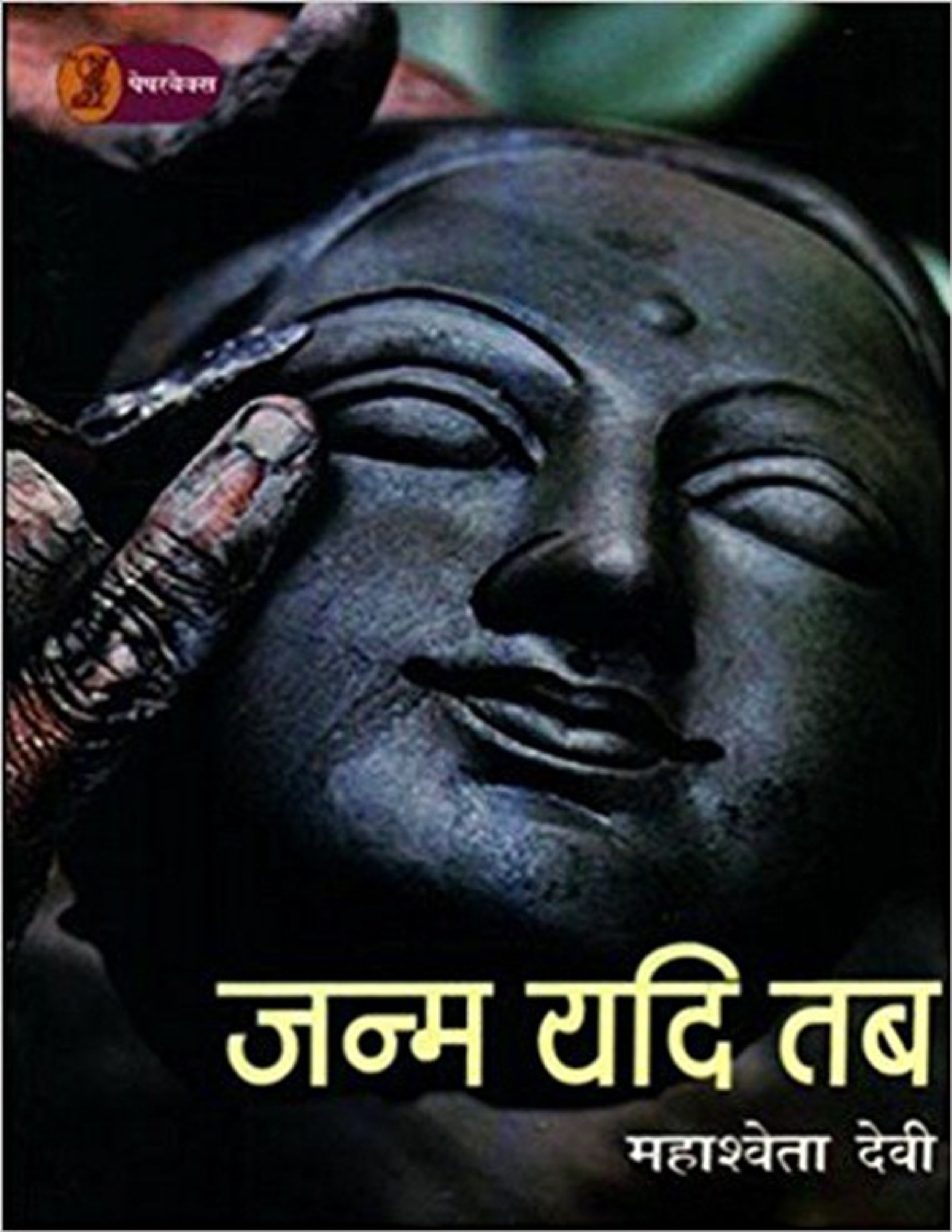


जन्म यदि तब

महाश्वेता देवी

जन्म यदि तव

महाश्वेता देवी

अनुवाद

सुशील गुप्ता

वाणी प्रकाशन

वाणी प्रकाशन

4695, 21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली *110 002*

शाखा
अशोक राजपथ, पटना *800 004*

फ़ोन: +91 11 23273167 फ़ैक्स: +91 11 23275710

www.vaniprakashan.in
vaniprakashan@gmail.com
sales@vaniprakashan.in

JANM YADI TAV
by Mahashweta Devi
Translated by Sushil Gupta

ISBN : 978-93-5229-617-0
Novel

प्रथम संस्करण

सिटी प्रेस, दिल्ली-*110 095* में मुद्रित

वाणी प्रकाशन का लोगो मक़बूल फ़िदा हुसेन की कूची से

विषय सूची

सन् 1873, 26 जून, अलीपुर जनरल अस्पताल रात।

रात शायद ज़्यादी घनी नहीं हुई थी। लेकिन अस्पताल में कहीं कोई कोलाहल नहीं था। आज दिन भर आषाढ़ का आसमान बादलों से ढँका रहा। शाम गहराते ही घनघोर अँधेरा! रात घनी होते ही मुसीबत शुरू हो गयी। मेघ घना होकर पेड़ों पर उतर आये। बिजली कौंध रही थी! बरसात होने लगी।

"उफ़! क्या मुसीबत है!" मनमोहन घोष ने कहा।

उनका मन व्यथित, दुःख भार-कातर था। हेनरियेटा का ताबूत ढोकर ले जानेवाली मुर्दागाड़ी जब क़ब्रिस्तान की ओर जा रही थी तब उसमें कोई वजन नहीं था। मौत का कारण चाहे जो भी लिखा गया हो, मनमोहन जानते थे हेनरियेटा की मौत अनाहार और अवहेलना की वजह से हुई है।

अस्पताल के कमरे प्रायः अन्धकारमय थे! लालटेन और लैम्प प्रबल वाताश में बार-बार बुझती हुई!

दूसरी मंज़िल की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते मनमोहन ने अपने साथी से कहा, "एक जन को मैं वहीं रख आया हूँ। और एक जन को कब ले जाना होगा, देखूँ! कैसी दुर्योगभरी रात है!"

"वे जानते हैं?"

"ख़बर तो मिल गयी है"

"किसने ख़बर दी?"

"पता नहीं।" डॉ. पामर ने कहा, "यह ठीक नहीं हुआ। ख़बर अगर न दी जाती, तो...।"

"कहीं वे सो तो नहीं गये?"

"नींद तो उन्हें आती नहीं। बस, वे गफ़लत में रहते हैं।"

मधुसूदन आँखें बन्द किये लेटे हुए थे। उनके पाँव के करीब परिचारक छोकरा सो चुका था। मनमोहन बेहद सतर्क अन्दाज़ में कमरे में दाखिल हुए। मधुसूदन ने उसी पल आँखें खोल दीं।

"कौन मनमोहन? मनु?"

"जी, मैं!"

"सब ठीक तरह निपट गया, मनु? कहीं कोई त्रुटि तो नहीं हुई?"

"स-ब ठीकठाक निपट गया। कहीं कोई त्रुटि नहीं हुई।"

“चलो, अच्छा हुआ! बहुत अच्छा रहा।”

मधुसूदन ने आँखें मूँद लीं, भौंहें सिकोड़ीं, जाने क्या सोचा और अगले ही पल उन्होंने कहा, “करीब आओ, मनु! मैं ज़ोर-ज़ोर से बातचीत नहीं कर सकता।”

मनमोहन घुटने गाड़कर बैठ गये। उसी पल उन्हें आभास हो गया कि और एक समाधि का इन्तज़ाम करने में ज़्यादा देर नहीं है। मधुसूदन के पीले चेहरे, बालों, माथे पर मौत की गन्ध मौजूद थी। जिसकी मृत्यु आसन्न थी, उसके शरीर और सत्ता में मृत्यु मानो अंजन लीप रही हो। जीवित नरदेह में वह गन्ध नहीं होती।

सम्भवतः मृत्यु-चेतना ने मधुसूदन की तीसरी आँख खोल दी।

मधुसूदन ने धीमी-धीमी आवाज़ में कहा, “येस, मनु यू आर करेक्ट! तुम सही हो।”

“आपने मुझसे कुछ कहा?”

“यू आर करेक्ट इन गेसिंग कि आइ एम डाइंग। मैं मरनेवाला हूँ।”

“आप ऐसी बात न करें।”

मधुसूदन ने भौंहें सिकोड़ीं। उन्होंने जाने क्या सोचने की कोशिश की। लेकिन वे कुछ याद नहीं कर पा रहे थे। स्मृति छलना नहीं करती। उन्हें तो सबकुछ याद रहता है। अगर वे भूल पाते, तो बच जाते। लेकिन उन्हें बचने का ख़याल आया ही क्यों? जब हेनरियेटा ही नहीं रही, तो वे क्यों ज़िन्दा रहें? ना, हेनरियेटा के बारे में अब वे नहीं सोचेंगे, जब उन्हें ख़बर मिली...

जाने कौन तो उनसे कहा था! किसने कहा था? अब उनके मन में भीषण, अतलान्त, प्रज्वलन्त हाहाकार मचा हुआ है! हेनरियेटा के प्रति अतिशय अभिमान जमा है। क्यों? थोड़े दिन और क्यों नहीं रही आँरियेत? उन दोनों की तो एक साथ जाने की बात तय थी।

नहीं, नहीं, आँरियेत ने ठीक किया। उसके जितना और किसे पता है कि अस्पताल आने से पहले मधुसूदन अँधेरे में कितनी परेशानी महसूस करते थे। “बत्ती ऑन करो”–वे बार-बार कहते थे। इसीलिए वह यूरिडाइस की तरह चली गयी और लेथ के काले जल के तीर पर इन्तज़ार कर रही है। किसका सप्रेम, असीम निर्भरताभरी, अपार करुणामिश्रित आँखें, उनके मन में जगी होती थीं, जब वे सीता या प्रमिला की तस्वीर आँकते थे? वह जानती थी कि उसके न होने पर, मधुसूदन इतनी सारी राह पैदल-पाँव चलकर ही जा सकते हैं। वह है, उसके साथ मौजूद है, यह जानकर ही वे इशु में, निःशंक विलीन हो सकेंगे।

स्मृति...यादों ने छलना नहीं की। माइकेल ने धीमे से कहा–Tomorrow...

मनमोहन ने पूछा, “आपने कुछ कहा?”

“मनु, तुमने शेक्सपियर पढ़ा है?”

“हाँ–”

“याद है?”

“क्या?”

“लेडी मैकबेथ जब मर गयी, तब मैकबेथ ने जो कहा था?”

“यह प्रसंग रहने दें।”

“नहीं, नहीं, मनु मुझे कहने दो। हर वक़्त तो मुझे यह सब याद आता भी नहीं।”

“आपको तकलीफ़ होगी।”

"मुझे? ना, मनु, मुझे तकलीफ़ नहीं होगी।" माइकेल सहसा मधुर, निर्मल ढंग से हँसे। वह हँसी, वह दृष्टि, मनमोहन को ज़िन्दगी भर याद रहेगी, यह बात क्या माइकेल जान सकते हैं?"

"हाँ, बताइए।"

मनमोहन ने चेहरा घुमाया! बेहद कष्ट हो रहा है, अतिशय क्रोध हो रहा है! हद ग़ुस्सा आ रहा है। लेकिन इतना ग़ुस्सा आखिर किस पर? इतना क्रोध क्यों? माइकेल अस्पताल के बिस्तर पर लेटे-लेटे अपने आखिरी प्रहर अकेले-अकेले निःसंग गिनते रहें? गिनते ही रहें? गिनते चले जाएँ? माइकेल तो ऐसे कंजूस नहीं थे। उन्होंने मेघनाद, प्रमिला, रावण–हर व्यक्ति की मृत्यु को तो उन्होंने धूमधाम, सम्भ्रान्त, आभिजात्य, श्रद्धेय कर डाला था। वे नर्स, डॉक्टर, सेवकों के सारे प्रयास व्यर्थ करके, यूँ निःसंग क्यों चले जा रहे हैं? माइकेल को क्या नहीं मिला? स्नेह? प्यार? बन्धुत्व?

उनके जैसा किसे इतना-इतना सब मिला है? कौन था सम्राट? किसे सबकुछ मिला? किसने सबकुछ खो दिया? उसके बाद कौन आज अकेले, इतने अकेले, इतने-इतने अकेले, इस वर्षा की रात में मौत की घड़ियाँ गिन रहा है? माइकेल ने कहा–"Tomorrow..."

"हाँ, कहिए–"

"Tomorrow and tomorrow and tomorrow,
Creeps in this petty pace from day to day
To the last syllable of recorded time;
And all our yesterday have lighted fools
The way to dusty death. Out, out brief candle,
Life's but a walking shadow a poor player,
That struts and frets his hour upon the stage,
And then is heard no more; it is a lale
Told by an idiot, full of sound and fury,
Signifying nothing—"

मनमोहन की छाती तले जाने क्या तो टूटता रहता था। हाय, स्वर्णसौधकिरीटनी, लंकापुरी का अन्त किसने लिखा था? किसने बँगला भाषा को दृढ़ता, समृद्धि, अहंकार देने के लिए, बेचैनी से चहलकदमी करते-करते, संस्कृत से एक-एक शब्द चुनकर बँगला भाषा को अनमोल अलंकारों से सजा दिया था?

मनमोहन के शोकातुर, दुःखभार हृदय में जाने कैसी तो असीम की अनुभूति! मानो मनमोहन समझ गये कि यह रात, माइकेल की यह उक्ति, सबकुछ अभी ही काल को जय करके, स्मृति में चिरन्तन होती जा रही है। उन्हें लगा वे अशेष भाग्यवान हैं, लेकिन आवाज़ आँसुओं से अवरुद्ध होती जा रही है।

मनमोहन ने काफ़ी कोशिश से सायास कहा, "इन सब बातों से कोई फ़ायदा नहीं। आप ठीक हो जाएँगे। आप इतनी फ़िक्र क्यों कर रहे हैं?"

माइकेल ईषत् हँसे। आसन्न मृत्यु ने उन्हें प्रगाढ़, आलोकित, ज्योतिर्मय ज्ञान दिया था। वे मनमोहन के अन्तस के अतल तक देख पा रहे थे। मनु, उनके स्नेह-प्यार का मनु, उनके

दुःसमय का बन्धु, मनमोहन उन्हें तसल्ली देने की कोशिश कर रहा था। मनु को बेहद तकलीफ़ हो रही थी। तकलीफ़ तो होगी ही! वह जो आँरियेत को आज समाधिस्थ कर आया है। उसे तकलीफ़ नहीं होगी, तो और किसे होगी? लेकिन मनु नितान्त बच्चा है। वह नहीं जानता कि माइकेल को अब किसी झूठी सान्त्वना की ज़रूरत नहीं है। मौत कोई भी झूठ सहन नहीं करती, मनु यह नहीं जानता। माइकेल ने मृत्यु को आच्छन्न चेतना में जो देखा है। आँरियेत की सप्रेम, चिर-सान्त्वना की मूर्ति बनकर, मृत्यु उनके सामने आयी थी! श्वेत-शुभ्र पोशाक थी उसकी, मानो श्वेत मेघों का आवरण। अपनी श्वेत-शुभ्र, निर्मल दोनों बाँहें बढ़ाकर वह उन्हें तसल्ली देते हुए कह गयी– "मैं हूँ! तुम मेरे पास आ रहे हो, समझे?" उसकी ममतामयी आँखों में क्या किसी और की भी दृष्टि थी? उन्हें कौन बुलाता था–"मधु! साँझ हो गयी, घर आ जा।" किसकी थीं वे आश्चर्यजनक, खूबसूरत आँखें, जो सिर्फ़ प्यार करना जानती थीं? किसने अपनी काली-काली आँखों का सारा प्यार, सहिष्णु ममता, आँरियेत को फ्रांस के आकाश की तरह, वसन्त के खिले-खिले बैंजनी फूल की तरह नीली आँखों को सौंप गया था। वे आँखें आकाश की तरह उदार नीली असीम थीं। माइकेल जितनी बार धूमकेतु के आकर्षण में, कक्षच्युत हुए, उन्हें उसी उदार नीलिमा का आश्रय मिला। लेकिन वे मनु को क्या बताएँ?

डॉक्टर पामर की बात?

आज भी तो आये थे, डॉक्टर पामर! माइकेल को उस वक़्त भी सब कुछ का बोध था। वे सब कुछ समझ सकते थे। डॉक्टर पामर ने रिपोर्ट देखी। बेहद धीमी आवाज़ में उन्होंने जूनियर डॉक्टर से बात की।

माइकेल ने कहा, "डॉक्टर, टेल मी! मुझे भी बताएँ।"

"क्या बताऊँ?"

"क्या देखा?"

"इट्स...इट्स ऑलराइट, मिस्टर डट्टा! स-ब ठीकठाक है।"

"व्हाट इज़ ऑलराइट? क्या ठीक है?"

"यू विल बी ऑलराइट!"

डॉक्टर पामर ने जैसे ही कहा–"यू विल बी ऑलराइट!", उसी पल माइकेल जान गये कि डॉक्टर पामर झूठ बोल रहे हैं, क्योंकि उसी पल उन्हें वह अपार्थिव, सुन्दर, श्वेत पोशाक में मृत्यु नज़र आ गयी थी। श्वेत बादलों की पोशाक में उनकी मृत्यु; उनकी आँरियेत मानो बहती हुई आयी थी। उसकी नीली-नीली आँखें! उन नीली आँखों में जाने कौन अपनी सारी ममता सौंप गयी थी! कौन उसे उस सुदूर, स्मृतियों से उजले-धुले शैशव में उसे आवाज़ देती थी–"मधु, घर आ!"

मौत सब कुछ हो सकती है–हेनरिएट की उँगली; उनके आँरियेत की उँगली; माँ की पुकार; कपोत की छाती से, पंख से, पानी झटकारकर, शून्य में उड़ जानेवाली, सन्ध्या की बलाका; पेरिस के ल्यूवर में मोनालिसा की तस्वीर के सामने अभिभूत मुद्रा में खड़े रहना; कालीप्रसन्न के अभिनन्दन सभा में काँच का गुलाबी गिलास, एक घूँट में खत्म करके, तोड़ डालनेवाली मदिर खनखनाहट; शिशु, शर्मिष्ठा की मधुर हँसी–'एक-एक करके बुझे जा रहे दीप...' जैसी कोई एक लाइन लिखने की अद्भुत तृप्ति; आँरियेत के रोगजीर्ण, श्वेत चेहरे पर

दर्द की नीली छाया, डॉक्टर पामर की आँखों में उद्वेग–इनमें से कोई भी मृत्यु का रूप हो सकती है। कोई नहीं जानता कि वह जो देख रहा है या जिसे वह प्यार करता है, उसीका नाम, मौत है या नहीं! जैसे रावण की मौत, दर्पण में देखे गये अपनी प्रिय गर्वित छाया में थी!

"डॉक्टर मुझे सच-सच बताएँ।"

"वट आइ हैव..."

"नो, यू हैव नॉट..."

"येस, मिस्टर डट्टा..."

"इतने बड़े डॉक्टर हैं आप, बेवकूफों की तरह बात कर रहे हैं।"

"क्यों?"

"क्योंकि आप सच नहीं बोल रहे हैं।"

"लेकिन..."

"यू सी, आइ हैव टु नो..."

"क्यों?"

"यू आर नॉट डाइंग, आइ एम!"

"अच्छा, तो..."

पामर अपने अन्दर मानो ताकत खोज रहे हों। हज़ार कुछ हो, वे अलीपुर जेनरल अस्पताल के प्रधान थे और डॉक्टर की हैसियत से वे रोगी को यह नहीं बता सकते थे कि उसकी मौत अवश्यम्भावी है। हालाँकि डॉक्टरी शपथ-ग्रहण में यह बात कही नहीं गयी, लेकिन वे मिस्टर डट्टा के प्रश्नभरे, मृत्यु-उज्ज्वल, गम्भीर, यन्त्रणा-विदीर्ण आँखों की तरफ़ देखते हुए झूठ कैसे बोलें? डॉक्टर होकर, कोई ऐसी परिस्थिति में कब पड़ा है? भला किसे इस तरह सच बोलना पड़ा है? मिस्टर डट्टा की पत्नी के मृत्यु-संवाद के तत्काल बाद ही वे झूठ कैसे बोलते?

उन्हें पत्नी की मृत्यु की ख़बर किसने दी? क्यों दी? यह ख़बर पाते ही मिस्टर डट्टा में जीने की जो थोड़ी-सी चाह बाकी थी, वह भी मानो चली गयी। उनकी तरह भला कौन जानता है कि रोगी के मन से जब जीने की चाह ख़त्म हो जाए, तब डॉक्टर के लिए कुछ भी करने का उपाय नहीं बचता?

"डॉक्टर!"

"येस, मिस्टर डट्टा!"

"आइ एम वेटिंग!"

पामर ने माइकेल की शीर्ण, रक्तशून्य, ठण्डी हथेली थाम ली।

उन्होंने कहा, "इट्स ए मैटर ऑफ फ्यु डेज़! बस, कुछ ही दिनों का मामला है..."

"धन्यवाद! धन्यवाद डॉक्टर!"

माइकेल की सारी बातें याद हैं।

माइकेल ने मनमोहन की हथेली पर हथेली रख दी। अभी तक वे सख़्त बने हुए थे। लेकिन, अब उन्हें जो बात कहनी थी, उसे कहने में उन्हें इतनी तकलीफ़ क्यों हो रही थी?

"मनु!"

"बताएँ!"

आज डॉक्टर पामर मुझे सबकुछ बता गये! देखो, मेरे दिन कहो, घण्टे कहो, अब गिनती के हैं, मनु! मेरा आखिरी अनुरोध है..."

"हाँ, कहिए..."

"तुम्हारे बेटों को अगर आहार मिले, मनु, तो कहो, मेरे बेटे भी... If you have one bread, Monu, you must divide it between yourself and my children...अगर तुम "हाँ" कर दो, मनु, तो मैं शायद निश्चिन्त होकर मर सकूँगा।"

"दिया! मैंने वचन दिया।"

"तुमने दिया वचन, मनु? वचन दिया?"

"अगर मेरे बेटों को खाना मिलेगा, तो आपके बेटे भी बिना खाये नहीं रहेंगे। जब तक मेरी क्षमता है, वे लोग उपासे नहीं रहेंगे।"

माइकेल को लगा, मनमोहन ने इतना बड़ा वचन दे डाला, लेकिन आज उनमें इतनी क्षमता नहीं कि वे एक कविता लिखकर, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर सकें। विद्यासागर को बार-बार कृतज्ञता जताते रहे...लेकिन उनसे उन्होंने सिर्फ़ रुपयों का कर्ज़ लिया था...रुपयों का कर्ज़ तो जीता जा सकता है...लेकिन मनु का कर्ज़? माइकेल कैसे शोध करेंगे?

"भगवान तुम्हारा मंगल करें, मनु!"

माइकेल ने मानो गहरी...बेहद गहरी थकान से आँखें मूँद लीं। मनमोहन आहिस्ते से बाहर निकल आये। अत्यन्त दुर्योगभरी रात थी!

माइकेल को फिर वही पुकार सुनाई दी–"मधु, घर आ जा, मधु! कितनी देर करेगा?"

"बस, अभी आया..." उनका अन्तर बोल उठा।

उसी पल उनके मन की चित्राशाला में जाने किसने तो एक तस्वीर पर रोशनी डाली। तत्काल ही मानो उनके पाँवों पर पानी की बूँद आ गिरी। माइकेल मानो निश्चिन्त हो आये। वे तो इस वक़्त अपने प्रिय बरगद के पेड़ तले टिककर बैठे हुए हैं, उनके पाँवों पर कपोताक्ष का जल आ टपका है।

शाम बस, उतरने ही वाली थी। खेलते-खेलते, खेल से भी जी उचट गया। रामायण भी हाथ में लेने का मन नहीं हुआ। बीच-बीच में उन्हें जाने क्या हो जाता था। इस नदी, पेड़ और झूलती हुई जटाओं की आड़ में अपने को छिपाकर, मन ही मन कितना सोचने का नशा उन्हें यहाँ खींच लाता था।

यह उनका सर्वाधिक प्रिय खेल था। मन ही मन कल्पना के जाल बुनना। जैसे ही वे अकेले-अकेले यहाँ आ बैठते थे, तब कपोताक्ष मानो नीला समुद्र बन जाता था। उस पार के पेड़, स्वर्णलंका बन जाते थे। समुद्र और लंका के बीच मानो सफ़ेद-सफ़ेद रेत। वह रेत उनके मन की आँखों में लाल होती रहती थी, क्योंकि अभी शाम हो चुकी थी। कुछ देर पहले तक उस रेत पर, दोनों ओर का खून झरता रहा था। एक अद्‌भुत, भीषण, भयंकर ज़िद का युद्ध, वे देखते रहते थे। उन्हें लंकापुरी की औरतों का आर्त विलाप सुनाई देता था! सागर-तट पर एक के बाद एक चिता धधकती हुई नज़र आती थी।

राम के शिविर में विजय-उत्सव! रावण का शिविर निष्प्रदीप! बालक मधु सब कुछ देखता रहता था। अपनी माँ से रामायण की कहानियाँ सुनते-सुनते, वह सब कभी पुरानी

नहीं पड़ती थीं। जितना सुनते-पढ़ते थे, उन्हें उतना ही अच्छा लगता था।

माँ ने पूछा, “हाँ, रे, रामायण क्या तेरे लिए पुराना नहीं पड़ता?”

“नहीं, माँ!”

“तू मुँह बाये क्या देखता रहता है? जब तू रामायण सुनता है, तब इतना चकित क्यों होता रहता है?”

“तुम्हें देखता रहता हूँ, माँ!”

“क्या देखता है?”

“सीता तुम्हारी तरह ही सुन्दर है।”

“तूने क्या सीता को देखा है?”

“अलबत् देखा है।”

“कहाँ?”

“क्यों बताऊँ?”

“यह तू क्या कहता है?”

“हाँ, मैंने सबको देखा है।”

“लो, शुरू हो गयी तेरी गहरी सोच...तेरी बातें।”

“तुम्हारा चेहरा इतना सूखा-सूखा क्यों है?”

“अरे, सूखा-सूखा तूने कहाँ देख लिया?”

“तुमने आज पान नहीं खाया?”

“तेरी क्या हर बात पर नज़र रहती है?”

“बताओ न!”

“सोमवार का उपास जो किया है मैंने।”

“क्यों?”

“तेरी बड़ी माँ, मँझली माँ, सबने व्रत किया है। मुझसे कहा–छोटी बहू, तू भी यह व्रत क्यों नहीं करती? इसलिए मैंने भी यह व्रत उठा लिया।”

“इस व्रत से क्या होता है?”

“तेरा मंगल होगा! सभी लोगों का कल्याण होगा।”

मधु आँखें फाड़-फाड़कर देखता रहा। माँ के अंग-अंग का रंग, दूधिया सफेद गरद-सिल्क साड़ी में घुलमिल गया था। गले की मटरमाला, हाथ का कंगन और कान के चौकोर कनफूल में दीपक जैसी जगमगाहट! बालों में फूलों का सुवास!

“माँ, तुम इतनी गोरी क्यों हो! मैं इतना काला क्यों हूँ?”

“तू क्या लड़की है कि गोरा होना ज़रूरी है?”

“तुम तो देव-देवियों जैसी सुन्दर हो।”

“हाँ, तुझसे कहा है जैसे! चल, अब खाना खा ले।”

“तुम्हारा दीये की बाती बनाने का काम पूरा हो गया?”

“हाँ, हो गया! अब, चल! हाँ रे, मधु...?”

“क्या?”

“बरगद की जड़ में बैठे-बैठे, तू क्या सोचता रहता है?”

"किसने कहा?"
"मैं जानती हूँ।"
"फिर तुम यह क्यों नहीं जान पाती कि मैं क्या सोचता हूँ?"
"जानने का वक़्त कहाँ मिलता है? तुम बच्चे क्या मुझे फुर्सत देते हो?"
"माँ, वह बात सुनाओगी?"
"कौन-सी बात?"
"वही बात! विवाह से पहले तुम्हारी बुआ ने तुम्हें व्रत कराया और क्या तो कहा था...?"
"ओफ ओ! फिर वही रामायण का ज़िक्र–"
"बताओ न!"
"सभी औरतों ने व्रत किया; मैंने भी किया। व्रत करने पर जो-जो नेम-नियम किया जाता है, मैंने भी किया। अन्त में व्रत की अल्पना पर हाथ रखकर कहा–

घर-घरन्ती रानी बनूँ
दशरथ जैसा ससुर मिले
कौशल्या सम सास मिले
राम जैसा पाऊँ पति!
सीता जैसे जाज्वल्य र-खे
सशरीर पहुँचूँ स-र-ग!

चल, अब हुआ न? खाली-पीली छुटपन की बातें बताओ! बियाह की बातें सुनाओ, यही सब..."
"लड़कों के लिए कोई उपवास नहीं होता, वर्ना मैं भी सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ सुनाता? कैसी सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ हैं?"
"क्यों तुम किसी से कम कहाँ हो, बच्चू? कभी राम बनते हो, कभी रावण! और कैंची से पूजा के लिए, बागान में फूलों का मुंड पात् करते हो? क्यों, रे, अपनी बड़ी माँ के फूलों का पौधा, कच्चू की तरह काट डाला?"
"वह लक्ष्मण बना था। मैंने उसे शक्ति-बाण मारा था।"
"चलो, आँखें तो बन्द हुई जा रही हैं। चलो, खा-पीकर सो रहो।"
"तुम बोलो, पढ़कर सुनाओगी?"
"क्या?"
"अरे वाह, तुमने तो कहा था कि आज तुम मुझे इन्द्रजित-युद्ध की कहानी पढ़कर सुनाओगी?"
"पढ़ूँगी कभी!"
"चलो–"
बरगद के पेड़ के नीचे बैठकर सोचते-सोचते वे जाने कहाँ तो चले गये थे।
अचानक फिर उनके कानों में आवाज़ आयी, "मधु, घर आ।"
माँ पुकार रही थी, "मधु, साँझ हो गयी, बच्चे? घर नहीं आएगा?"
मधु उठ खड़े हुए। अब घर लौटना होगा। माँ सदर के सिंह-द्वार से होकर बाहर आती

नहीं थी। ज़रूर खिड़की से बाहर आकर, पोखर-किनारे खड़ी-खड़ी आवाज़ें दिये जा रही थीं।

बेटे को देखकर उन्होंने कहा, “क्यों रे, तुझे ज़रा भी डर-भय नहीं लगता? कर्ता घर आ चुके हैं, तुझे नहीं पता?”

“अरे, कब आये?”

“अभी... ज़रा देर पहले!”

“मेरे लिए साहब-घर से क़मीज लाये?”

“हाँ, लाये हैं! चल, तू अन्दर तो चल!”

“चलो! बप्पा हैं कहाँ?”

“बाहरी घर में। कौन-कौन तो आये हैं, उनसे बातें कर रहे हैं।”

“तब तो बप्पा से बात ही नहीं होगी। जाने कब तो खाने के लिए अन्दर आएँगे। मैं तो सो ही जाऊँगा।”

“कोई बात नहीं, सुबह बात कर लेना।”

“अरे, पाठशाला नहीं जाऊँगा?”

“पाठशाला!” अपने स्वभाव का संयम भूलकर, जाह्नवी ने अपनी एक बाँह में उसे कसकर लपेट लिया।

उन्होंने फुसफुसाकर कहा, “कर्ता तुझे और मुझे कलकत्ता ले जा रहे हैं न! अब तू वहीं पढ़ेगा।”

“कलकत्ता में?”

“हाँ, रे, जिस कॉलेज में कर्ता ने पढ़ाई की थी, उसी कॉलेज में!”

“वह तो हिन्दू कॉलेज है!”

“मुझे नाम-वाम उतना याद नहीं रहता, भइया! तू वहीं पढ़ेगा। हम सब खिदिरपुर में रहेंगे।”

“तुम सच कह रही हो?”

“हाँ, रे, कर्ता ने पण्डित जी से दिन-मुहूर्त देखने को कहा है। उसी बारे में बातचीत चल रही है।”

“सिर्फ़ मैं और तुम जाओगी?”

“अभी तो यही बात तय हुई है।”

“तुम तो कहती हो, कलकत्ता जाकर धर्म सलामत नहीं रहता?”

“धर्म हर जगह सलामत रहता है, बच्चे, सलामत रखना आना चाहिए।”

माइकेल ने बड़ी कोशिश से अपनी आँखें खोलीं। यह क्या? वे अस्पताल में क्यों हैं? चारों तरफ़ ऐसा सन्नाटा और निस्तब्ध माहौल क्यों है? अच्छा, अच्छा वे बीमार हैं, इसीलिए वे अस्पताल में हैं। आँरियेत अगर स्वस्थ-निरोग होती, तो माइकेल जीवन भर बेनेपुर में दामाद के घर ही रह जाते।

लेकिन आँरियेत अब नहीं रही। आँरियेत चली गयी। उससे भेंट भी नहीं हुई। उत्तरपाड़ा में ही आँरियेत भी बेतरह बीमार हो गयी। गौर उससे मिलने गया था। उसे देखते ही वह तो रो पड़ा। वे बेनेपुर चले आये। लेकिन बेटी-दामाद क्या दो-दो रोगियों की सार-सम्हाल कर पाते? इसीलिए तो उमेश, मनमोहन और गुडीव चक्रवर्ती की कोशिशों से माइकेल यहाँ चले आये।

आँरियेत ने कहा, था, "तुम स्वस्थ होकर लौट आना, डार्लिंग!"

लेकिन माइकेल ये तमाम बातें क्यों सोच रहे हैं? अब उन्हें अपनी बची-खुची ताकत समेटरकर यह सोचना होगा कि दो दूनी पाँच कैसे हो गया। मुंशी राजनारायण के इकलौते सुपुत्र होने के बावजूद, आज उन्हें अस्पताल में रहकर, प्रभु ईशु में विलीन होने का इन्तज़ार क्यों करना पड़ रहा है? झूठ, असत्य, कुहेलिका वे बर्दाश्त नहीं कर पाते। आज उन्हें जीवन का हर अध्याय गौर से दुहराना होगा कि भूल कहाँ हो गयी, वर्ना अपनी माँ की पुकार का वे जवाब कैसे दे पाएँगे? "मधु, आ जा, घर आ जा!" लेकिन घर कहाँ है? माटी में? श्यामल घास के आवरण में ढँके उर्वर अँधेरे में? वे वहीं तो जाना चाहते हैं। वे बेतरह थक चुके हैं! बेहद अवसन्न हैं!

हाँ, वे कलकत्ता चले आये थे।

माइकेल ने आँखें मूँद लीं। वे दोबारा अपनी माँ का 'मधु' पिता का 'डार्लिंग ब्वॉय' बन गये। बाहर बारिश हो रही थी। स्मृतियों की चादर पर बारिश की बूँदों की तरह यादों के कण झरते रहे, उन्हें भिगोते रहे। बाहर बरसात जारी थी। सहसा कहीं वज्र गिरा। आषाढ़ का आकाश नीली रोशनी में उद्भासित हो उठा। अस्पताल की खिड़की का काँच एकदम से रौशन हो उठा। स्मृति-पट पर तस्वीरें कौंध उठीं।

हिन्दू कॉलेज! हिन्दू कॉलेज! कॉलेज के बड़े-बड़े, ऊँचे-ऊँचे खम्भे! चौड़ी सीढ़ियाँ! प्रशस्त क्लास-रूम! हिन्दू कॉलेज!

उनके बप्पा ने कहा, "मैंने यहीं पढ़ाई की थी, मधु! तू भी यहीं पढ़। बड़ी जगह पर पढ़ाई न की जाए, तो मन बड़ा नहीं होता।"

बप्पा ने यह भी कहा, "अरे, मैं जानता हूँ कि पढ़ाई-लिखाई में वह अच्छा करेगा ही करेगा। तुम देखना, छोटी बहू, मैं उसे सिर्फ़ तेज़ छात्र बनने के लिए ही हिन्दू कॉलेज में नहीं डाल रहा हूँ, मैं चाहता हूँ, वह भरा-पूरा इनसान बने।"

माँ ने जवाब दिया, "इनसान तो वह ख़ैर बनेगा ही बनेगा। लेकिन जब तुम्हारी इतनी इच्छा है, तो उसे पढ़ने-लिखने में भी बेहतर होना ही होगा।"

बप्पा ने फिर अपनी तरफ़ से जुमला जोड़ा, "देख, मधु, मैंने कभी वहीं पढ़ाई की है न! वह मेरे लिए बेहद प्रिय स्मृति है।"

मधु को तो यही समझ में नहीं आता था कि कॉलेज में उसके यार-दोस्त अपने-अपने पिता से इतना डरते क्यों हैं। उन सबके पिता उनके लिए इतनी दूर-दूर से, सिर्फ़ सम्मान और भय ज्ञापित करने के पात्र क्यों हैं?

काफ़ी दिनों बाद, गौर तो जैसे आसमान से गिरा, "हाँ रे, मधु, जेठू ने तुझे गुड़गुड़े की नली थमा दी? तू ने हुक्का गुड़गुड़ाया?"

"हाँ, गुड़गुड़ाया न! अपनी आँखों से ही तो देखा तुमने?"

"हाँ, देखा तो...!"
"क्यों? तो क्या हो गया?"
"ऐसा कोई नहीं करता, भइये। जेठू इतने गुणी-ज्ञानी मानस ठहरे।"
"देखो, गौर, मेरे बाद के दो-दो भाई नहीं रहे। बप्पा कलकत्ता में ही रहते थे और हम सब गाँव में रहते थे। इसलिए बप्पा के मन में मेरे लिए तीखी प्यास बनी हुई थी, जानता है? वे मुझसे दोस्त की तरह मिलते-जुलते थे। मैं उन्हें 'आप' ज़रूर कहता हूँ, उनका सम्मान भी करता हूँ, लेकिन हम दोनों में दोस्ती का बर्ताव है।"
"सम्मान करनेवाला, क्या बाप के साथ बैठकर भला कहीं तमाखू पीता है?"
"गौर, तुम्हारे साथ मुश्किल क्या है, मालूम?"
"क्या? बता तो!"
"तू मॉडर्न टाइम में रहता तो है, मगर समय की नब्ज़ नहीं पहचानता।"
"समय क्या बुख़ार का शिकार रोगी है, जो उसका नब्ज़ देखूँ?"
यह जवाब सुनते ही, मधु के भीतर का तार्मिक जाग उठता था। गौर जो मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, मधु की नज़र उस तरफ़ जाती ही नहीं थी।
"गौर, मैं तुझे बता दूँ, यू आर लिविंग इन मॉडर्न टाइम्स!"
"मैंने 'ना' किया है क्या? इनकार किया है कभी?"
"पहले तो इट वाज़ ऑल डार्क ऐण्ड राममोहन केम ऐण्ड ऑल वाज़ लाइट! पहले सबकुछ अँधेरा था, राममोहन के आते ही सबकुछ रौशन हो गया।"
"हुँह जैसे तुझसे कहा है।"
"अरे, वे फर्स्ट मॉडर्न मैन ऑफ इण्डिया! वे पहले आधुनिक इनसान थे।"
"सुन, तुझे राममोहन को चैम्पियन करने की ज़रूरत नहीं है।"
"अरे, मेरे बाप, एक इनसान ने देश को मॉडर्न टाइम्स में पहुँचा दिया और देख, कितनी अद्‌भुत कल्पना-शक्ति थी उनमें! राजा की तरह ब्रिस्टल जाकर, फट् से मर गया। ग्रेट मैन न होता, तो उस देश में जाकर मरता?"
"तू फिर शुरू हो गया! जो उस देश का है, वही भला है? यही बात है न?"
"बे-शक्! वेस्ट इज़ द प्लेस फॉर मॉडर्न मैन! मॉडर्न मैन की जगह है वह!"
"रुक जा, जेठी-माँ को बताता हूँ।"
"क्या बताएगा? मैं विलायत जाना चाहता हूँ?"
"और क्या?"
"हाँ, अलबत् जाना चाहता हूँ। क्यों जाना चाहता हूँ, जानता है?"
"बता दे, मैं सुन लूँ।"
"आइ हैव टु बी ए पोएट! कवि बनना चाहता हूँ।"
"देश में बैठकर क्या कवि नहीं हुआ जा सकता?"
"ना, गौर, इवन इन मॉडर्न टाइम्स! इस देश का सबकुछ जैसे बड़ा बँधा-बँधा है। यू डोण्ट फील फ्री इन सच ए सोसाइटी! इस समाज में तुम अपने को आज़ाद महसूस नहीं करते ऐण्ड ए पोएट मस्ट फील फ्री!"
"तू क्या आज़ाद नहीं है?"

“अरे, भइये, इस देश में पुराने-धुराने जू-जू लोगों का शासन है। हम सब मॉडर्न हैं! हाँ, आधुनिक तो हैं ही! लेकिन पुरानी ज़ंज़ीरों ने हमें आज भी जकड़ रखा है।”

“क्यों? कैसे?”

“हिन्दू कॉलेज बेहद गौरवमय है। लेकिन कर साहब बड़े खिटमिटिया हैं और देख न, डिरोज़िओ जैसा इनसान पढ़ाकर चला गया, हेयर जैसा प्राणी इम्तहान लेता है, फिर भी नियमों की कैसी जकड़न है, बाप्स्! मैं कायस्थ हूँ, इसलिए मुझे संस्कृत नहीं पढ़ने देंगे।”

“हाँ, सो तो सच है!”

“क्यों, बाप, ज्ञान के जगत में यह बाम्हन-कामन्त का क्या तमाशा है? नॉलेज शुड बी फ्री फॉर ऑल! ज्ञान सबके लिए स्वतन्त्र होना चाहिए।”

“हाँ, यह तो सच है।”

“इसके अलावा और क्या बात है, जानता है? यू मस्ट लर्न टु बिहेव लाइक ए मॉडर्न मैन! आधुनिक इनसान की तरह बर्ताव करना, सीखना चाहिए।”

“वह कैसे?”

“इन मानवीय रिश्तों को भी आधुनिक निगाह से देखना चाहिए। वह कैसे, मालूम?”

“तू ही बता!”

“मैं अपने पिता के साथ एक ही हुक्के से कश लगा सकता हूँ, फिर भी आइ कैन सम्मान हिम, क्योंकि मैं मॉडर्न मैन हूँ। मेरा पिता मेरा जन्मदाता है, लेकिन मेरा दोस्त भी है। आइ कैन गो टु यूरोप, फिर भी मैं अपने देश को प्यार कर सकता हूँ। आइ कैन लव माइ माँ, फिर भी माँ मेरी मित्र हो सकती है। और, गौर, यू आर इम्पॉसिबल, लेकिन फिर भी तुम ही मेरे जीवन में बेस्ट फ्रेण्ड हो!”

“शुक्र है कि तूने यह बात क़बूल की!”

“इसीलिए तो परसों तुम्हें मेरी तरफ़ से कलकत्ता शहर का बेहतरीन लेवेण्डर और क्रीम मिली। अच्छा, हवा को सूँघकर देखो तो! केन यू स्मेल हेवेन? स्वर्ग की खुशबू आ रही है?”

“नहीं, जेठी-माँ के खाना पकाने की खुशबू आ रही है।”

“ऐण्ड दैट इज़ हेवन! वही स्वर्ग है। तुम्हारे और भोलानाथ के लिए माँ आज गोश्त का पुलाव पका रही है।”

“पता नहीं, जेठी-माँ इतना कुछ कैसे पका लेती हैं?”

“जेठी-माँ के पति-पुत्र, दोनों ही भोजन-रसिक हैं, इसलिए वे सीख-सीखकर पकवान तैयार करती हैं।”

“ख़ैर, जेठी-माँ का बेटा तो प्रिंस है! राजकुमार।”

“कहाँ का राजकुमार?”

“ऑफ हिन्दू कॉलेज!”

“क्यों?”

“इतना खुश-पोशाकी भला कौन है, बिरादर? कौन, नित्य-नयी पोशाक में, पालकी हँकाकर कॉलेज आता है? कौन आज धोती-चादर, कल बूट-पायजामा-अचकन, परसों साहबी सूट पहनकर, लड़कों का दिमाग घुमा देता है? कौन अपने नौकर को साथ लेकर

कॉलेज आता है?”

“कौन भला राजनारायण दत्त का वारिस है, यह तो बताओ?”

“बातों में तुझसे जीत नहीं पाऊँगा–”

“किसका दोस्त है–गौर बसाक, यह तो बता?”

“किसकी माँ ने अपने बेटे को अपना राजदुलारा बनाकर रखा है? सच्ची, तुझे ऐसी माँ नसीब हुई है, इसीलिए कभी-कभी तुमसे जलन होती है।”

“ओह नो, नो, गौर! माँ के सन्दर्भ में मैं भयंकर जलाधुर हूँ। यह जो मेरी माँ तुझे ज़्यादा प्यार करती हैं, कभी-कभी मुझे इस बात से भी ईर्ष्या होती है।”

“बाप रे ऽऽ, इतने-इतने प्यार में से, एकाध बूँद हिस्सा-बाँट करने में तुझे ईर्ष्या होती है? मेरी माँ क्या तुझे प्यार नहीं करती?”

“बे-श-क! उनके जैसी रोटी और घण्ट सब्ज़ी भला कौन पका सकता है? इसीलिए तो मैं तुझे माफ़ कर देता हूँ।”

“रुक जा, मैं माँ को बताता हूँ।”

“बता दे!”

“और क्या?”

“और क्या! अब, चल, मॉडर्न मैन की तरह मेरी माँ के हाथों तैयार किया गया पुलाव, हप्-हप् उड़ाओ।”

“तू न, इम्पॉसिबल है!”

आज मौत की दहलीज पर खड़े होकर, आलोकित चेतना में माइकेल को लगा कि उन्होंने किसी दिन भी अपने बारे में “क्यों-क्यों-क्यों”–यह सवाल समझने की कोशिश ही नहीं की।

वे अस्फुट आवाज़ में बुदबुदा उठे, “जीवन! महान् जीवन! ग्लोरियस लाइफ! क्षमा करो! फॉरगिव मी। आइ वाज़ सो बिज़ी विथ द ऐक्ट ऑफ लिविंग! मैं जीवन जीने में ही इस क़दर व्यस्त रहा...”

उन्हीं दिनों से माइकेल...नहीं, नहीं, जब वे माइकेल नहीं थे, जब सिर्फ़ मधु थे, तभी उन्हें लगने लगा कि जीवन, फूलों के मोल पर सजी-सजायी नाट्यशाला है! दीपावली से रौशन नाट्यशाला! जीवन मेघों के गर्जन का सिंहनाद है! तेज़ रफ़्तार में दौड़ती हुई वज्राग्नि! जीवन अनन्त वासन्ती बयार है! अप्सराओं के नृत्य से मंजरित है।

इसीलिए जीने के भयंकर, दुर्दम, प्राणवन्त आनन्द में, गहरे नशे में, इतने-इतने बन्दिशों के बावजूद तेज़-तेज़ दौड़ते रहना! मॉडर्न मैन!

सच्चा मॉडर्न मैन कभी भी अपने आदि को...अपनी जड़ों को अस्वीकार नहीं करता। माइकेल ने भी नहीं किया। उन्होंने अपने माता-पिता का असीम प्यार देखा है, खुद भी उनका असीम प्यार, असीम लाड़-दुलार प्यार पाया है उन्होंने, उन्होंने भी तो आँरियेत को, बच्चों को, बन्धु-बान्धव वगैरह सभी को प्यार किया था।

मॉडर्न मैन अपने अतीत से बस, सार भर लेता है, उसके बाद, जीवन के साथ नये-नये

दर्द में नये-नये सम्पर्क स्थापित करता है। उन्हें जीना सबसे ज़्यादा ज़रूरी लगा था और वे जीने में बेतरह व्यस्त हो गये थे।

आज लगता है कि जीवन उससे भी बड़ा कुछ है। काश, वे आँरियेत को शान्ति-चैन दे पाते।

उनके बेहिसाब खर्च-पत्तर के लिए आँरियेत गौर से कहा करती थी, "उन्हें समझाइए न, ज़रा हाथ दबाकर ख़र्च किया करें। मेरी बात तो वे बिल्कुल नहीं सुनते।"

गौर उन दोनों का ही एक जैसा दोस्त था।

गौर जैसे ही उन्हें ख़र्च के बारे में आगाह करने की कोशिश करता, वे छूटते ही कहते, "नो! नो! गौर, मुझे अपना स्टेटस रखकर चलना पड़ता है।"

आँरियेत बेहद तकलीफ़ पाकर गयी है। उसका तो कोई दोष नहीं था। वह तो माइकेल को सुखी देखना चाहती थी। इसीलिए वह उनके किसी काम में बाधा नहीं देती थी। आँरियेत! मुझे माफ कर दो, आँरियेत! मैं तुम्हें कौंधते हुए वज्राघात की तरह दौड़कर स्वर्ग का सारा ऐश्वर्य लाकर तुम्हें सजाना चाहता था। प्रमथ्युस होकर मैं आग छीन लूँगा, किन्तु मैं क्या वाकई वाइकेरस था? मैं जितना करीब गया, मेरे पंखों का मोम उतना ही पिघलता गया...पिघलता गया...पिघलता रहा और मैं अगर आइकेरस होता, तो मेरा जीवन आसमान होता। मुझे उस आकाश की परिक्रमा करनी चाहिए थी और जैसे ही मैं सूरज की ओर बढ़ने लगा...बढ़ता गया, मुझे अहसास होता गया कि ऊपर और ऊपर उठना...सूरज तक चढ़ने का मतलब है, पंख का फुँककर खाक़ हो जाना! लेकिन मैं लगातार ऊपर उठने का दुर्वार तकाजा रोक नहीं पाया...रोकना मैं चाहता भी नहीं था। अगर चुनौती देनी ही पड़ी, तो वरेण्य उस पृथ्वी के धारणकर्ता सविता को ही करूँगा और मेरे पंख खिसककर गिर पड़े। पंख-टूटे जटायु की तरह मैं नीचे...और नीचे आ पड़ा। अटल-अडिग, निष्ठुर जीव, रावण की तरह, सारी उम्मीदें छीनकर ले गया। सिर्फ़ जीवन ही नहीं, कुहुकिनी आशा भी हँस पड़ी थी, और प्रेम से अपहरणकर्ता के गले में बाँहें डाल दी थी। काश, मैं सुरक्षित दूरी रखकर उड़ता तो अपने अभीष्ट लक्ष्य तक ज़रूर पहुँच जाता।

सुरक्षित! साफ़-सुथरी ज़िन्दगी! साफ़-सुथरी और सुव्यवस्थित ज़िन्दगी! मैं ज़िन्दगी का बस, यही हिसाब कभी नहीं समझ पाया। इसीलिए ऐश्वर्य और ज़िन्दगी की सुरक्षा स्थायी नहीं हुई। लेकिन ज़िन्दगी साफ़-सुथरी थी। नाप-जोखकर चलना, हिसाब कसकर जीना, छिप-छिपकर दारू पीना और बाहर शरीफ सजकर चलने का हिसाब। अपने और अपने प्रियजन को वंचित करके घर-मकान और धान-जमीं खरीदने का हिसाब, मेरी समझ में नहीं आया। मैं! सन ऑफ राजनारायण डट्टा, प्रिंस ऑफ हिन्दू कॉलेज। मुझे जो समझ में आया, मैंने वही किया। येस, आँरियेत, मैंने काफ़ी क़ीमत चुकायी है। लेकिन मैं बेईमान नहीं था। उस समय भी मैं जानता था कि कुछ पाने के लिए कीमत चुकानी पड़ती है। मैं कवि होना चाहता था। जो लोग समाज-संस्कार, धर्म-संस्कार करने निकलते हैं और राह पर अकेले-अकेले चलते हैं, वे लोग भी काफ़ी ऊँचे दाम चुकाते हैं। इसलिए, मैं जान-समझकर, पश्चिमी कल्चर और साहित्य को ग्रहण करूँगा, अपने ढंग से खुद लिखूँगा! ऐसी ही ढेरों आकांक्षाएँ लिए, सन् 1843 में मैं फोर्ट विलियम भाग आया। मैं जानता था, कि यह सिर्फ़ हिन्दू कॉलेज से फोर्टविलियम भागना ही नहीं था। उन्हीं दिनों मैं आइकेरस बन चुका था

और एकबारगी सूर्य के वृत्त में छलाँग लगाये बिना तो पंख नहीं पिघलते। इसीलिए उस समय भी मुझे जानकारी नहीं थी कि किसी दिन मैं अपने को यूँ अकेला, अस्पताल में देखूँगा। चूँकि मेरा नाम विद्रोही में दर्ज़ हो गया था, इसलिए साफ़-सुथरे समाज ने कहा–"देखा? क़मबख़्त माइकेल अपनी करतूतों के फलस्वरूप किस हाल में मर रहा है? देखो और सीखो! देख-देखकर सबक लो! कोई भी प्राणी सूर्य की ओर छलाँग लगाने की कोशिश मत करना।"

आँरियेत आज बेतहाशा बारिश है। तुम्हारे लिए आसमान रो रहा है। तुम्हारी समाधि पर बरसात का जल झरता रहे, आँरियेत! ताबूत में लेटा हुआ तुम्हारा मृत शरीर–जो तुम हो, जो तुम नहीं हो, सब शान्ति पाएँ। आँरियेत, जो समाज आज की रात भी सिर तक कथरी ओढ़े सोता है, वह तो सिर्फ़ क्रम चाहता है, दुर्घटना से खौफ खाता है और वह सूरज और वह पगला घोड़ा, नक्षत्र अगर दुर्घटना न घटाए, तो यह भुवनमेखला, सागर कुन्तला पृथ्वी आखिर कहाँ रहती? क्या यह जन्म लेती? नहीं, वह जन्म ही नहीं लेती।

लेकिन माँ बेतरह आहत हुई थीं! बप्पा का दिल टूट गया था।

गौर दौड़ता हुआ आ पहुँचा। भूदेव भी आया। मुझे देखकर वे लोग चकित रह गये, क्योंकि मुझमें किसी दूरत्व की आड़ उभर आयी थी। मैं उन लोगों का वही दोस्त, वही मधु था। लेकिन मैं ईसाई होने की बात, ऐट ऑल, सोच भी सकता हूँ और इसके लिए ज़रूरत पड़ी तो उन लोगों का वर्जन भी कर सकता हूँ, यह सच भी मौजूद था। इस बात से उन लोगों को बेहद चोट लगी थी। मेरे ईसाई होने का मतलब था, जिस दुनिया में, मैं उन लोगों के साथ एकात्म था, उसका त्याग करना। इसके अलावा आजन्म, मेरे खून में पलते हुए संस्कारों को भीषण चोट लगने का मामला तो था ही। उन लोगों की आँखों में वही आहत और खिन्न अभिमान भी था। मैंने काफ़ी कम समय के लिए ही उन लोगों से युक्तिसंगत लहजे में बातचीत की, लेकिन मॉडर्न जीवन की ट्रेजडी यह है कि आजकल आन्तरिकतम बातें भी अन्तरतम दोस्तों तक नहीं पहुँचतीं। मॉडर्न जीवन ने जीवन इनसानों को धीरे-धीरे द्वीप बना डाला है। जॉन डॉन वाज़ रॉन्ग इन राइटिंग फॉर "नो मैन इज़ ऐन आइलैण्ड!" असल में सबके सब द्वीप हैं!

गौर की नज़रें देखकर, मैं भाँप गया कि वह कितना और खिन्न था। गौर, आज, अपनी मौत से पहले मैं पूछता हूँ, "तूने क्या मेरे तमाम तर्क, मेरी तमाम युक्ति क्या ठीक-ठीक समझ सका था?" बाद में भी, तू मुझे पहले जैसा ही प्यार करता रहा, लेकिन उस दिन मैं तुम्हें समझा नहीं सका कि मॉडर्न मैन ईसाई हो सकता है, क्योंकि उसकी यूरोप जाने की चाह की तरह ही उसमें ईसाई होने की चाह भी ज़बर्दस्त थी और इसके बावजूद वह अपने माँ-बाप, यार-दोस्तों को पहले जितना ही प्यार कर सकता है। मैं तुझे समझा नहीं पाया।

रेवरेण्ड बैनर्जी का इसमें कोई हाथ, कोई प्रभाव नहीं था। और वे बीइंग वेरी-वेरी बुद्धिमान, समझ गये थे। मैं ईसाई होना चाहता था। मैं विलायत जाना चाहता था। उन्होंने साफ़-साफ़ जता दिया था कि वे मेरे आखिरी वाक्य के सन्दर्भ में, मेरी कोई मदद नहीं कर

सकेंगे।

मुझ पर किसी ने ज़ोर नहीं डाला था, गौर! तू क्या मुझे नहीं जानता? मुझसे ज़ोर-ज़बर्दस्ती कोई, कुछ नहीं कराया जा सकता। हाँ, प्यार मिले, तो मैं सबकुछ कर सकता हूँ।

मैं रेवरेण्ड बैनर्जी की किसी बेटी को प्यार करने लगा था, इसलिए ईसाई बनना चाहता हूँ, उस आक्षेप का जवाब आज भी नहीं दूँगा। पिछले तीस वर्षों से कई-कई बातें चालू थीं, चालू रहें। मैंने कभी, दूसरों के मामले में दखल नहीं दी, लेकिन मेरे बारे में हमेशा से सभी लोग हज़ारों बातें करते रहे हैं। सभी लोगों जैसा न बन पाना, सभी लोग जो-जो चाहते हैं, वैसी चाहें न करना–यह कोई भी बन्दा नहीं सह सकता।

रही माँ और बप्पा की बात? मैं क्यों जवाब दूँ? मैं क्यों ईसाई बन गया, लोगों में से किसी ने भी जब यह बात नहीं समझी, उसी तरह लोगों ने यह भी नहीं समझा कि क्यों मेरे माँ-बाप ने मुझसे अपना रिश्ता पूरी तरह नहीं तोड़ा। अगर मैं आम बंगाली नहीं था, तो मेरे माता-पिता भी अन्य पाँच जन की तरह नहीं थे। हाँ, मैंने अपने उस माता-पिता को काफ़ी तकलीफ़ दी है, काफ़ी सताया है। मैं उन्हें तकलीफ़ दे रहा हूँ, यह जानकर भी मेरे लिए और कुछ करने का उपाय नहीं था। मॉडर्न मैन हमेशा ही परस्पर-विरोधी कण्ट्राडिक्शन का शिकार होता रहा है, तकलीफ़ पाता रहा है। सरल रेखाओं मुताबिक वह चल नहीं सकता! मैं भी नहीं चल पाया।

गौर, मेरे डीयर-डीयर बन्धु, तुम लोग समझ नहीं पाये, मैंने जिस युद्ध-क्षेत्र का किस्सा बयान किया है, वह युद्ध मेरे अन्तस में बराबर ही चलता रहता था। विट्विन थाउजेण्ड मधु! हज़ारों मधु के बीच जंग छिड़ी हुई है। चूँकि सभी मधु, मैं ही हूँ, इसलिए मैं इनमें से किसी को भी जीतने नहीं देता, रे! मैंने सबको हरा दिया। अब मेरा हृदय स्वर्णलंका के श्मशान जैसा है। सारे योद्धा मृत हो चुके हैं; सभी की चिताएँ बुझी हुईं और इस युद्ध का सर्वाधिपति मैं हूँ! माँ का 'मधु'! बप्पा का 'डार्लिंग ब्वाय', तुम सबका 'भाई मधु'! आँरियेत का 'डालिंग'! पब्लिक का 'माइकेल', अस्पताल में निचाट अकेला पड़ा हूँ! लगभग अँधेरा कमरा! बाहर बरसात हो रही है, होती जा रही है, लगातार जारी है। आँरियेत की समाधि भीग रही है, भीगती जा रही है, लगातार भीग रही है। मैं शान्त हूँ–सकल युद्ध की निवृत्ति हो चुकी है। हार-जीत की सकल वासना के समापन में हूँ! मैं आखिरी सत्य के इन्तज़ार में हूँ, जिसका नाम है–मृत्यु!

मनु को यह बताते हुए तकलीफ़ हुई कि विद्यासागर या दिगम्बर आँरियेत की फ्युनरल में नहीं गये। ख़ैर, वे दोनों मुझे भी देखने नहीं आये।

आज माइकेल को फिर याद आता रहा, राजनारायण दत्त किस क़दर भड़क गये थे। नहीं, उन्होंने बेटे के प्रति ज़िम्मेदारी, कहीं से भी पूरी तरह त्याग नहीं किया। शिवपुर के विशॉप्स कॉलेज में बेटे को राजसीय हाल में रखकर, उन्होंने उसकी पढ़ाई-लिखाई का इन्तज़ाम कर दिया। जब उन्हें अहसास हुआ कि उनका बेटा प्रायश्चित् करके, दोबारा हिन्दू हरगिज नहीं बनेगा, तब अपने नाम का उत्तराधिकार कायम रख जाने के लिए, पुत्र प्राप्त करने के इरादे से उन्होंने दूसरी शादी कर ली। माइकेल को अब, अहसास होता है कि इससे माँ के मन को कितना सन्ताप हुआ था।

जाह्नवी जानती थीं कि पति का प्यार उनका अकेले का है। बेटा ईसाई हो गया,

लेकिन उन्होंने तो पति को कभी निराश नहीं किया। उन्होंने पति को दूसरे विवाह की अनुमति तो दे दी, लेकिन उनके मन को जबर्दस्त आघात लगा था।

जो बेटा उनकी सर्वसत्ता है। उसके विच्छेद में वह जान दिये दे रही हैं, यह देखकर भी वह बेटा प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार नहीं है, यह उनके लिए भीषण आघात था। यानी वे अपने बेटे की दुनिया में सर्वाधिक ज़रूरी नहीं हैं? बेटे की निगाह में उनसे भी बढ़कर कोई प्रबल और प्रचण्ड आकर्षण के लिए कुछ है? उनसे बढ़कर उसके जीवन में कोई और बृहदतर आकर्षण है? उसकी तुलना में वे गौण हैं?

पति के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति भी आखिरी बात नहीं है! उनकी पुत्रेच्छा पर आघात देने से भला चलता है? सागर-पार जाकर, जुही के फूल जैसी सुन्दर और निष्पाप, शिवसुन्दरी को ब्याहकर ले आना क्या चलता है? जाह्नवी को नज़र आ रहा था पति और पुत्र, दोनों ही असम्भव की उम्मीद में असम्भव सब काम किये जा रहे थे। उन्हें मन ही मन अन्दाज़ा हो गया था कि किसी को भी सुख-शान्ति नहीं मिलेगी।

शिवसुन्दरी ज़िन्दा नहीं रह पायीं। उनके बाद प्रसन्नमयी, उसके बाद, हरकामिनी–एक के बाद एक सौतन ला-लाकर बिठाते रहे।

उन्होंने कहा, “ये सब तुम्हारी दासियाँ हैं।” लेकिन उनमें से कोई भी सन्तानवती नहीं हो पायी।

आज माइकेल के मन में सवाल उठता है–क्या, मैंने ही सही-सही काम किया है? विशॉप्स कॉलेज में रहते हुए मैंने चार वर्षों में हज़ारों-हज़ार रुपये उड़ाये। बप्पा ने जब रुपये देने से इनकार कर दिया, तब मैंने डिप्टी मजिस्ट्रेट की नौकरी के लिए दरखास्त भेजा। जब मुझे यह पता चला कि जवाब पाने में देर होगी, तो बिना किसी को बताए, सन् 1848 में मैं मद्रास भाग गया। वहाँ मैं अपनी तकदीर आजमाना चाहता था। मेरी चौबीस वर्ष उम्र! उन दिनों में मेरी यही धारणा थी कि मैं जो कहूँगा, वही कर सकता हूँ। मैं खुदरा हिसाब कसकर, चूहों की तरह क्यों ज़िन्दा रहूँ? मैं ऐश्वर्य लेकर आऊँगा, भोग करूँगा! आइ हैव इनहेरिटेड दिस अर्थ! मैं इस धरती का वारिस हूँ।

मद्रास! मद्रास! अकेला मैं! वहाँ मैंने स्कूल में पढ़ाया, अखबार चलाया, कविता लिखी, ‘कैप्टिव लेडी’ की रचना की, ‘विजया’ की सृष्टि की, रेबेका मैक्टाविस से शादी की, सात वर्षों में चार बेटे-बेटियों का पिता बना। गौर बार-बार वापस लौट आने की गुहार लगाता रहा। बेथुन को उसी ने ‘कैप्टिव लेडी’ पढ़ाई। बेथुन ने उससे कहा–“तुम्हारा मित्र बँगला में ही लिखे; बँगला को समृद्ध करे।”

अपने देश वापस लौट आऊँगा, यह मैंने कभी नहीं सोचा था। यहाँ खिदिरपुरवाले घर में मुझसे रहा नहीं जाता। देश का तो मतलब है–माँ! सन् 1851 में अपना टूटा-फूटा दिल लिए मेरी माँ का निधन हो गया। माँ के निधन के बाद, एक बार मैं अपने पिता से मिलने गया और उनसे भेंट करके लौट आया। ओल्ड मैन वाज़ वेरी-वेरी ब्रोकेन! हाँ, वे बूढ़े हो चुके थे और बेतरह टूट-फूट गये। सन् 1856 में बप्पा का भी देहान्त हो गया। सन् 1856 साल मुझे याद रहेगा। बप्पा का स्वर्गवास हो चुका था। रेबेका मुझे छोड़कर चली गयी। मुझे आँरियेत मिल गयी। गौर ने लिखा–खिदिरपुर का पुश्तैनी घर शायद किसी और के हाथ चला जाए। मैं कलकत्ता लौटा, सन् 1856 में! 1848-1856–इन आठ वर्षों के दौरान मेरी

ज़िन्दगी बदलते-बदलते जाने कहाँ से कहाँ चली आयी।

लेकिन जीवन के विचित्र-विचित्र संकट के समय, बेहद अप्रत्याशित ढंग से मुझे कई दोस्त भी मिले। मैं तो सन् 1856 में ही जाने कहाँ डूब गया होता, अगर पुलिस मजिस्ट्रेट, किशोरी मित्र ने मुझसे पुलिस कोर्ट के हेड क्लर्क का काम न लिया होता, बप्पा की सम्पत्ति पाने में मेरी मदद न की होती, अपनी बगान-कोठी में मुझे रहने की जगह न दी होती।

उसके बाद ही मैं पुलिस-कोर्ट में इण्टरप्रेटर बन गया। छः नम्बर लोअर चितपुर रोड में मैंने घर ले लिया। दो क़दम चलकर, मैं कचहरी पहुँच जाता था। किशोरी के मकान की मजलिस में ही, प्यारी मित्र से मेरी बहस छिड़ गयी।

प्यारी ने कहा, “समृद्ध-दुलारी भाषा को तुच्छ मत करो, डट्ट! दैट इज़ द लैंग्वेज टु राइट इन! लिखने के लिए यही भाषा उपयुक्त है।”

मैंने पूछा, “क्यों?”

“अरे, प्रचलित भाषा में लिखोगे, तभी लोग समझेंगे और तब यही भाषा चालू होगी, तुम देख लेना।”

प्यारी अपने नज़रिये से सही था। वह हमेशा ही शिक्षा-प्रचारक के नज़रिये से ही सोचता था।

उन दिनों भी मुझे यह जानकारी नहीं थी कि भाषा के इस्तेमाल में किसी प्रकार की सख़्ती रखना नहीं चलता। मुझे पता नहीं था कि ज़रूरत पड़ने पर मैं भी प्रचलित आम भाषा में प्रहसन लिखूँगा।

ऐसे में, मैंने अपने दृष्टिकोण से उसे जवाब दिया, “देखो, पोशाक की तरह भाषा में भी घर और बाहर तो होता ही है। इनसान क्या घर की पोशाक में बाहर निकलता है? उस भाषा में बँगला की समस्या दूर नहीं होगी। बँगला को समृद्ध बनाना ज़रूरी है। इसके लिए प्रचुर रूप से संस्कृत की मदद लेनी होगी, बँगला भाषा समृद्ध नहीं होगी।”

जाने किसने तो कहा, “यह काम कौन करेगा? आप?”

“शायद!”

“आप करेंगे?”

“मुमकिन है, करूँ और वही भाषा ही चलेगी।”

उस वक़्त सभी लोग खूब-खूब हँसे थे। क्यों हँसे थे? विशॉप्स कॉलेज में ही मैंने संस्कृत पढ़ी थी। संस्कृत भाषा के प्रति मेरी गहरी श्रद्धा थी। रही बँगला की बात? बेथुन ने मुझे बँगला भाषा में लिखने को कहा, इससे पहले ही मैंने गौर को लिखा कि वह मुझे काशीराम दास और कृत्तिवास भेज दे। मेरे सन्दर्भ में बँगला में लिखने की बात किसी ने सोची भी नहीं थी।

क्यों नहीं सोची, यह मुझे नहीं पता। साहित्य क्या अचानक कुछ हो सकता है? अंग्रेजी में ही, मेरी दख़ल अधिक थी, बँगला मैंने ख़ास नहीं पढ़ी थी। यह भी सच था, लेकिन, थैंक्स टु माइ मदर। उनके जरिये रामायण, महाभारत, चण्डीमंगल से तो मेरा परिचय, शैशव से ही था। मन के अन्दर कहीं, कोई तैयारी नहीं थी, ऐसा भला क्या हो सकता था?

लेकिन अंग्रेज़ीनवीश के तौर पर ही मेरा नाम-डाक था। इसलिए पाइकपाड़ा के राजाओं के कहने पर मैंने ‘रत्नावली’ का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर डाला। लेकिन क्या नाटक

था! न संस्कृत, न बँगला! अजब जड़! नाटक नहीं था, फिर भी नाटक लिखा गया। इसके अलावा, 'रत्नावली' के बारे में प्रशंसनीय कुछ भी नहीं था।

रिहर्सल के समय ही मैंने गौर को यह बात बतायी! राजा-रजवाड़ों का मामला था। ख़ैर, नाटक बड़ी धूमधाम से हुआ! रिहर्सल के दौरान ही कितना आडम्बर! ख़ैर, अड्डा खूब जमता था।

वैसे नाटक की निन्दा सुनकर गौर ने कहा, "अरे, भइये, अच्छा नाटक मिलता कहाँ है? बँगला में अगर अच्छा नाटक होता, तो कोई यह नाटक मंचित करता?"

मुझ पर जाने कैसी तो ज़िद सवार हो गयी।

मैंने कहा, "अच्छा नाटक? क्यों? मैं लिख दूँगा नाटक!"

गौर को जैसे भरोसा नहीं हुआ। जब मैं मद्रास में था, वह बँगला लिखवाने के लिए मुझ पर काफ़ी ज़ोर डालता रहता था। जब उन दिनों नहीं लिखा, अब क्या लिखूँगा? उसने शायद यही सोचा। लेकिन उसका मन तो 'मधुमय' था! 'मधुसूदनमय' कहना और बेहतर होगा।

उसने कहा, "यह तो बहुत अच्छी बात है। देखो, कोशिश कर देखो!" इतना कहकर, उसे खुशी ही हुई!

आज सब कुछ याद आ रहा है, गौर! सुना है, अतल जल में डूबते समय, मरने से पहले इनसान को अपना अतीत जीवन, तस्वीर की तरह दिखाई पड़ता है। मेरे जीवन का प्रवाह अब काल-समुद्र से मिलनेवाला है। मैं भी सब कुछ देख पा रहा हूँ। तुम जैसा, मनु जैसा बन्धु, आँरियेत जैसी जीवनसंगिनी और माँ जैसी माँ मिली थी मुझे, इसलिए देख लेना, मैं स्वर्ग जाऊँगा।

उस आखिरी फैसले के दिन! मैं चर्च से ज़्यादा यीशु में विश्वास करता था, गौर! उस आखिरी विचार के दिन, जब गेब्रिएल दुन्दुभी बजाएगा और मृतक अपनी-अपनी समाधि छोड़कर उठ आएँगे, मैं तुम लोगों के लिए हेवन ऑफ हेवन्स में चला जाऊँगा। स्वर्ग के अमरलोक में! महामहिम जज फैसला देंगे–"जो इनसान को ज़िन्दगी भर इतना-इतना मिला है, वह श्रेष्ठ स्वर्ग का अधिकारी है। हाँ, गौर, ही विल बी वेरी-वेरी काइण्ड टु मी! परम प्रभु यीशु मुझ पर परम मेहरबान होंगे।"

लेकिन, गौर, तुमने भी नहीं समझा कि मद्रास में रहते हुए, मैं बँगला में लिखूँगा या नहीं, यह सोचने की मुझे फुर्सत कहाँ मिली? हमेशा, हर पल ही, जीवन की वाइन उड गो टु माइ हेड! ज़िन्दगी की शराब मेरे दिमाग़ पर चढ़ जाती थी। ज़रा सोच देखो, वहाँ मैं निपट अकेला था। काफ़ी सारी भीषण बाधा-रुकावटों को पीछे धकेलकर मैंने रेबेका से शादी की, फिर मेरे बेटे-बेटी हुए। उन दिनों अंग्रेज़ी ही मेरे लिए रोटी जुटाती थी। उसके बाद, माँ-बप्पा, दोनों की मृत्यु, रेबेका का चला जाना, आँरियेत को पा लेना–मैं क्या थिर होकर बैठकर, ठण्डे-शान्त दिमाग़ से मैं कुछ सोच सकता था?

और यह भी मत भूलो कि मेरे अन्दर हज़ारों मधु, हज़ारों प्रॉमिथ्यूस मौजूद थे। उन दिनों मेरे अन्दर हज़ारों आइकेरस भयंकर जंग कर रहे थे। स-भी आकाश की ओर बढ़ते जाएँगे, सूरज को चुनौती देंगे, आग चुराएँगे! सभी सम्राट बनना चाहेंगे।

मैंने कहा, "लिखूँगा, मैं नाटक लिखूँगा।"

उन दिनों मुझे अच्छे-अच्छे नाटक, अच्छे स्टेज की ज़रूरत, मैं बेभाव महसूस करता था। अरे, कोई सभ्य देश होता, तो वहाँ स्टेज भी होता। अच्छा नाटक इनसान का सिर्फ़ मनोरंजन ही नहीं करता, कितना कुछ सिखाता भी है! स्टेज कैन बी ए माइटी एडूकेटर! स्टेज शक्तिशाली शिक्षक हो सकता है।

मैंने खूब-खूब लिखाई-पढ़ाई की। मैंने 'शर्मिष्ठा' नाटक लिखा। ऐण्ड विथ एक अदद नाटक से, आइ वाज़ मेड!

सभी लोग बहुत बड़ा धक्का खा गये!

–अरे, माइकेल, धर्मत्यागी, अंग्रेज़ीदाँ माइकेल, उसने बँगला में ऐसा नाटक लिख मारा?

–अरे, यह बात किसी ने भी नहीं सोची कि जिसका किसी एक साहित्य पर दखल होता है, वह शिक्षित मन से मेहनत करता है, तो किसी दूसरे साहित्य में भी अपना कृतित्व दिखा सकता है। मैं बँगला में क्यों नहीं लिखता? मेरी मातृभाषा ही तो है, भइये! जन्म से ही मैंने इसी भाषा में बातें कीं! लिखाई-पढ़ाई की! इसी भाषा में पठन-पाठन सुना। ऐसा तो नहीं था कि इस भाषा में नितान्त अनाड़ी था।

'शर्मिष्ठा' नाटक सन् 1859 में प्रकाशित हुआ। उन तीन वर्षों मैं खुशी-खुशी आराम से लिखता रहा! नौकरी करता था और मैं चाहे कितना भी खुश-खर्च क्यों न होऊँ, मेरा आराम से चल रहा था।

आँरियेत के सेवा-जतन की कोई तुलना नहीं थी। मैंने प्रहसन लिखा, नये छन्द में काव्य-रचना की! किताबें! किताबें! किताब पर किताब! साल भर के अन्दर-अन्दर 'मेघनाद-वध' की एक हज़ार प्रतियाँ बिक गयीं। बँगला साहित्य जगत् में मैं सम्राट बन बैठा।

प्रशंसा भी मेरे मन में वही काम करती थी, जो शरीर में शराब करती है।

लेकिन, गौर, मेरा विश्वास कर, यह बात याद करके मैंने कभी बूँद भर भी गर्व महसूस नहीं किया, आज भी नहीं करता। आज मुझे ख़याल आता है, बँगला भाषा के प्रति मैं अपना दायित्व भी महसूस करने लगा था। कवि होने की तीखी चाह के साथ-साथ वह शौक भी था, वर्ना मैं इतने-इतने शब्द, इतने क्रियापद भला क्यों तैयार करता? मैंने बँगला कविता की रेंज भी बढ़ाने की कोशिश की। इसीलिए छन्द और फॉर्म को लेकर इतने-इतने एक्सपेरिमेंट कर रहा था।

कहा न, मैं भयंकर कॉण्ट्राडिक्शन, भीषण प्रतिकूलता में सफ़र करता था! तकलीफ़ पाता था। मैंने एक ही धक्के में बँगला साहित्य को मॉडर्न टाइम्स में पहुँचा देने की कोशिश की थी।

लेकिन मैंने ट्रेडीशन...परम्परा को तो अस्वीकार नहीं किया। मैंने चतुष्पदी लिखकर, कृत्तिवास, काशीराम, भारतचन्द्र, किसे श्रद्धांजलि नहीं दी? पुरानी बँगला कविताओं से मैंने क्रियापद और सर्वनामों के अनगिनत फॉर्म लिए। मैंने तो ट्रेडीशन यानी परम्परा का श्रेष्ठ तथ्य ले लिया और बिल्कुल नया ट्रेडीशन गढ़ने की कोशिश की। मुझे अभी भी लगता है कि आइ वाज़ करेक्ट! मैं सही था। मैंने ठीक किया था।

हाँ, गौर, साहित्य को जो देना था, वह सब गौरव, सम्मान–सभी कुछ उसने मुझे

दिया था।

लेकिन साहित्य-यश बेहद ईर्ष्यालु मिस्ट्रेस है। बिल्कुल एकाग्र मन से उसे थामे न रहो, तो वह तुम्हें छोड़कर चल देता है!

यह बात मैंने नहीं समझी थी!

शैशव से मेरे मन में यह जो कवि बनने की तीखी चाह पल रही थी, कवि बन जाने के फौरन बाद मैंने देखा, न्ना, माइकेल मधुसूदन नामक प्राणी कॉण्ट्राडिक्शन...प्रतिकूलता की पोटली है। कविता ही मेरी आखिरी इच्छा नहीं थी।

मैं जिस ढंग से जीना चाहता हूँ, उसी ऐश्वर्य, सम्मान, प्रतिष्ठा के लिए मैंने इंग्लैण्ड जाकर बैरिस्टर बनना चाहा।

तुम देख रहे हो, गौर, मेरा एट्टिच्यूड...मेरा रुख देख रहे हो? मैं क़बूल करता हूँ।

महज़ साहित्य को ही थामे जीता रहूँ और तकलीफ़ पाऊँ, मेरी यह इच्छा कतई नहीं थी। तकलीफ़ में होने की बात मैं सोच भी नहीं सकता था।

बचपन में सुबह-सवेरे सागरदाँड़ी में खीर, सन्देश, महीन चिउड़ा और फल खाता था। दोपहर को माँ सात-सात चूल्हे में चावल चढ़ा देती थी। जिस चूल्हे का चावल सबसे बढ़िया उबला होता था, उस भात के साथ माँ दस प्रकार का व्यंजन परोस देती थी। रात को भी मैं सोलहों प्रकार के व्यंजन का आहार करता था।

मैं जब भी धोती पहनता था, सबसे महीन और नायाब धोती पहनता था। इसके अलावा पोशाक-कपड़ों की बहार तो तुम लोगों ने भी देखी है। अपने साथ नौकर को लेकर, गुदगुदी गद्देदार पालकी में सवार होकर, मैं कॉलेज जाता था। विशॉप कॉलेज में पढ़ाई करते समय, बप्पा मुझे सौ रुपये देते थे। इसके अलावा मेरी माँ भी रुपये थमा देती थी। इसके बावजूद अपनी किताब-विताब बेच दिया करता था।

बचपन से ही प्रिंस जैसे ऐश-विलास में पला-बढ़ा था। मेरी माँ भी ज़मींदार की बेटी थी। उन लोगों के गाँव की हवेली में जोड़ी फिटन तैयार रहती थी। मेरी माँ भी हिसाब से खर्च नहीं करती थीं। बप्पा भी जो कमाकर लाते थे, माँ को सौंप देते थे। रुपये खर्च के लिए होते हैं, इसके अलावा मैंने कुछ नहीं जाना। जानना मुझे सिखाया भी नहीं गया।

जब मैंने यह तय किया कि मैं बैरिस्टर बनूँगा, तभी यह नहीं सोचा था कि अब कविता नहीं लिखूँगा। कविता कितनी ईर्ष्यालु मिस्ट्रेस हो सकती है, मुझे उस समय भी अन्दाज़ा नहीं था। जितने दिनों तक मैंने पुलिस कोर्ट की नौकरी को गौण रखा, कविता को प्रमुख बनाये रहा! शी वाज़ विथ मी! मेरे साथ-साथ चलती रही। अगर कविता को मैंने गौण बना लिया और बैरिस्टरी को प्रमुख बनाया, तो कविता भयंकर प्रतिशोध ले सकती है, मुझे इसकी भी जानकारी नहीं थी। हाँ, सोचा ज़रूर था कि कविता लिखता रहूँगा, कविता फिर-फिर लिखूँगा! सोचा था, इसके अलावा बैरिस्टर बनूँगा।

वही, उसी समय आइकेरस के पंखों के मोम में सूर्य की प्रतिहिंसा की शुरुआत हुई!

मुझे नहीं पता। मैंने सूरज की तरफ़ छलाँग लगा दी।

सन् 1862 में मैं विलायत चला गया।

27 जून को सुबह हुई! बारिश की बदरंग सुबह!

मेघों की छाया में सूरज का तेज़ म्लान पड़ा था। सुबह ही माइकेल को लगा कि कमरा मानो मलिन और विवर्ण हो आया है।

“क्यों रे, बत्ती नहीं जलाएगा?” उन्होंने परिचारक से पूछा।

“अभी तो सुबह हुई है, साहब!”

“अरे हाँ, सच ही तो!” माइकेल के होठों पर फीकी-सी हँसी झलक उठी। असल में अन्दर ही अन्दर, एक-एक दीया बुझता जा रहा था, इसलिए बाहरी प्रकाश का अहसास नहीं हो रहा था।

रेवरेण्ड चन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय माइकेल की खैर-ख़बर लेने आये। वे हर रोज ही आते थे।

माइकेल ने हौले से पूछा, “रेवरेण्ड, मैं मरने वाला हूँ, यह बात तो सभी जानते हैं। मेरी अन्त्येष्टि के बारे में खूब चर्चा और सोच-विचार हो रहा है। है न?”

चन्द्रनाथ ने ज़ुबान खोली, “वेल...”

“बताइए न!”

“कोई नहीं जानता कि धर्म के बारे में आपकी क्या राय है!”

“दैट्स नाइस! आइ एम डाइंग ऐण्ड येट आइ एम कीपिंग पीपुल बिज़ी गेसिंग माइ माइण्ड! लोग मेरा दिमाग़ पढ़ने में लगे हैं।”

“लेकिन... मिस्टर डट्ट!”

“मैं ईश्वर में विश्वास करता हूँ। ईश्वर ने ही यीशु को भेजा था, इसमें मुझे कभी शक-शुबहा नहीं है।”

“आपने तो ज़िन्दगी में भी कभी किसी धार्मिक आचार-अनुष्ठान में भी हिस्सा नहीं लिया।”

“इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है?”

“इसीलिए तो...”

“देखिए, मैं क्रिश्चियन हूँ। मैं क्रिश्चियन की तरह ही मरना चाहता हूँ और क्रिश्चियन की तरह ही मेरी समाधि बने...”

“मिस्टर डट्ट... !”

“जी, कहिए?”

“आप क्या सरेण्डर नहीं कर सकते?”

“कर तो दिया है।”

“येट ए बैट्ल गोज़ ऑन विदिन यू! आपके अन्दर कोई जंग चल रही है।”

“यह जंग तो मेरे ख़ून में जारी है!”

“फिर भी सरेण्डर कर दें! आत्मसमर्पण करें प्रभु को! टु हिज़ मर्सी! उनकी कृपा को समर्पित हो जाएँ।”

“समर्पण किया! समर्पण किया, रेवरेण्ड, मैंने समर्पण किया।”

“मैं क्या प्रार्थना करूँ?”

“जी, ज़रूर! हर पल! लेकिन मैं जानता हूँ कि ईश्वर मुझ पर करुणा करेंगे। मुझ पर

अपनी करुणा बरसाएँगे।"

चन्द्रनाथ चले गये। मानो चन्द्रनाथ ने मधुसूदन को काफ़ी थका दिया हो। मधुसूदन ने आँखें मूँद लीं। अपने अन्तस में उन्हें फिर वही व्याकुल पुकार सुनाई दी–"मधु, घर आ जा मोरे धन। साँझ हो गयी।"

"आया, माँ..." अस्फुट जवाब देते हुए, उन्होंने आँखें खोल दीं। अन्दर ही अन्दर भयंकर यन्त्रणा जाग उठी। उन्होंने इधर से उधर तक असहाय निगाहें दौड़ायीं। नर्स दौड़ी हुई आयी। सफेद पोशाक में नर्स! एंजल ऑफ मर्सी! करुणा की देवपरी! उन्होंने इंग्लैण्ड में देखा था, फ्लोरेंस नाइटिंगेल का कितना सम्मान था!

"व्हाट इज़ इट, मिस्टर डट्ट ? क्या बात है?"

"नथिंग!"

"कहाँ तकलीफ़ हो रही है ? यह क्या?"

नर्स ने उनके मुँह के आगे गमला बढ़ा दिया। माइकेल ने साग्रह कहा श्वेत गमले में लाल-लाख ख़ून! थक्के-थक्के ख़ून! शोणित! रक्त! रुधिर! रक्तधार! लहू! किसी एक शब्द से उन्हें कभी तृप्ति नहीं हुई। किसी समय, एक ही अर्थ समझानेवाले, काफ़ी सारे समानार्थी शब्द लिख रखते थे और उनमें से एक शब्द चुनकर, वे इस्तेमाल करते थे।

शब्दों का इस्तेमाल वे करते थे? कौन करता था? इतनी-इतनी कविताएँ किसने लिखीं? उसे क्या वे पहचानते थे?

नर्स ने उनका मुँह पोंछ दिया। भीगे तौलिये से उनका मुँह, मुँह से निकलता झाग, गाल भी पोंछकर साफ़ कर दिया। उसने एक और नर्स को आवाज़ दी।

"नहीं, मिस्टर डट्ट, आपको दर्द नहीं होगा, ज़रा भी दर्द नहीं होगा।"

माँ जैसे अपने शिशु का जतन करती है, उसी तरह नर्सें उनके बिस्तर की चादर वगैरह बदल देती थीं। चादर पर पाउडर छिड़क देती थीं। डॉक्टर पामर का निर्देश था। ही मस्ट बी गिवन ऑल कम्फर्ट! उन्हें हर तरह का आराम दिया जाए।

माइकेल ने हाँफते-हाँफते कहा, "तुम सब इतनी भली हो। मैं अगर यहाँ पहले आ गया होता, तो शायद बच जाता।"

"आप भी इतने भले हैं। आपकी सेवा करके सुख मिलता है। वैसे भी यह तो हमारी ड्यूटी है।"

"तुम सब, सच ही, बेहद भली हो।"

माइकेल ने आँखें मूँद लीं। नर्सें एक-दूसरे की आँखों में झाँकने लगीं। आज उन्हें कुछ भी खिलाना मुश्किल हो रहा है। दवा, पथ्य, कुछ भी मुँह में डालते ही, बाहर ढुलककर बह जाता है। मिस्टर डट्ट तर्क-यन्त्रणा झेल रहे हैं। लेकिन कैसी अद्‌भुत सहनशक्ति है! कैसा तेज़वान चेहरा है! आँखों की दृष्टि किस क़दर दीप्त! आवाज़ में ज़रूर घरघराहट है। लेकिन डॉक्टर पामर ने बताया है कि उनकी आवाज़ हमेशा से ही इसी तरह टूटी-टूटी है।

जूनियर डॉक्टर आ पहुँचे।

"मिस्टर डट्ट...!"

"लेट मी बी!"

"हाउ डू यू फील? कैसे हैं आप?"

“फाइन! जस्ट फाइन!”
“यह दवा...!”
“लेट मी बी!”
“यह नयी दवा है!”
माइकेल मधुर ममता से मुस्करा उठे। उस मुस्कान ने जूनियर डॉक्टर की छाती पर मानो आघात किया। आखिरी साँसों में, गमला भर ख़ून की उलटियाँ करने के बाद, इस मुद्रा में भला कौन हँस-मुस्करा सकता है?
माइकेल ने हँसकर कहा, “दवा से अब कुछ नहीं होगा, माइ ब्वॉय!”
“किसने कहा?”
“जिसने कहा, वह डॉक्टर से ज़्यादा शक्तिमान है।”
“कौन?”
“डेथ! मृत्यु।”
माइकेल ने आँखें मूँद लीं। जूनियर डॉक्टर वहाँ से हट गया।
उसने नर्स को हिदायत दी, “बाद में कोशिश कर देखना।”
“डॉक्टर, मिस्टर डट्टा इज़ नॉट...”
जूनियर डॉक्टर ने कोई जवाब नहीं दिया। उसने अपने कन्धे झटकार दिये। अब कुछ भी बोलने को क्या रह गया है? यह मिस्टर डट्ट एक ग्रेट पोएट हैं, ग्रेट मैन! महान् कवि और महान् इनसान। लेकिन किसी महान् कवि और महान् इनसान को अगर ज़िन्दा रखना है, तो उन्हें पहले ही अस्पताल में दाखिल क्यों नहीं किया जाता? क्यों आख़िरी वक़्त लाया जाता है, जब अस्पताल लाने का मतलब है डेथ-सर्टिफिकेट लिखना। लेकिन अब, सोचने से कोई फ़ायदा नहीं है। अंग्रेज और यूरोपीय लोगों के लिए संरक्षित यह अस्पताल, युरेशियन, यहूदी, पारसी, विलायतयाफ्ता देशी ईसाइयों के अधिकार के बाहर है। यहाँ मिस्टर डट्ट को सम्मानसहित रखा गया है। तमाम तरह की यथासाध्य कोशिश की जा रही है। इसके सिवा और कुछ करने को नहीं है।
काश, उन्हें जून महीने के अन्त में लाने के बजाय, जून के शुरू में लाया जाता!
माइकेल ने आँखें मूँद रखी थीं।
नर्स ने दवा लेने को दुबारा कहा।
माइकेल को दुबारा सुनाई दिया, “मधु, घर आ जा, बच्चे, साँझ हो गयी।”
“आया, माँ!”
माँ के तो कितने ही अर्थ होते हैं! लेकिन इस वक़्त माँ को पुकारते हुए सिर्फ़ यही लगता है–सागरदाँड़ी, कपोताक्ष, बरगद का पेड़, खिड़की के पास हाथ में दीया, खाने की थाली के सामने पंखा थामे हथेली, मशहरी के बाहर बैठी, दीया जलाकर, हाथ में किताब। बप्पा जब घर लौटते थे, रात के समय माँ सुन्दर-सी साड़ी पहनती थी। सबसे छिपाकर, अपने जूड़े में चम्पा का फूल खोंसकर, कमरे में आती थी और सोने से पहले हाथ-पाँव धोकर बिस्तर पर लेटती थीं।
लेकिन, अब माँ का मतलब है, सागरदाँड़ी! मधु ‘यात्रा’ सुनने जाएगा, इसलिए माँ उसे भात सानकर खिला रही है! मधु अन्यान्य लड़कों के साथ बरसाती पानी में डूबे खेतों

से होकर, दौड़ता हुआ आया है। माँ ने उसके पाँव पोंछकर, तलवे में गर्म तेल की मालिश कर दी है, गर्म दूध पिलाया है। मधु अपने भाइयों के साथ शेखपाड़ा के मौलवी साहब से फ़ारसी पढ़ने जा रहा है, माँ ने नौकर, मधु सिंगी के हाथ में मर्तबान केला, नारियल, खजूर का गुड़ थमाकर कहा है–मौलवी साहब को दे देना! ओ मधु, यह जैसा ऊधमी बच्चा है, देखना, कहीं इधर-उधर न दौड़ जाए। अगर कहीं दौड़ जाए, तो इसके कान पकड़कर, मेरे पास खींच लाना।" यानी माँ का मतलब यही सब है। माँ ने दासी के मारफत पाठशाला के गुरु जी को कहला भेजा है, "इस घर का लड़का है, तो क्या हुआ? और-और बच्चों की तरह इसे भी डाँट-डपट कीजिएगा, वर्ना यह बच्चा, इनसान नहीं बनेगा।" मधु को बुखार आ गया था। माँ पूरे चार दिनों तक उसके सिरहाने से हिली तक नहीं। मुँह में दाना- पानी तक नहीं डाला। जब वह स्वस्थ हो गया, तो उन्होंने सत्यनारायण जी की पूजा करायी थी।

वही माँ कह रही है, "घर आ जा, मधु!"

"आता हूँ, माँ! पहले सबकुछ देख-सुनकर ठीकठाक कर दूँ। यह तो समझ लूँ कि तुम्हारा मधु ऐसा क्यों निकला।"

"तू ऐसी प्रबल प्रचण्डता से जीने लगा, मेरे धन, वही तेरी देह से बर्दाश्त नहीं हुआ।"

"हाँ, माँ, मुझसे भूल हो गयी! माँ, कहो न, मुझसे भूल हो गयी।"

"नहीं, बच्चे, जो तेरे मन में आया, तूने वही किया। लेकिन, अब तो साँझ हो गयी, मोरे पूत, अब घर लौट आ।"

"घर कहाँ है, माँ?"

"अब, मैं हर जगह मौजूद हूँ। और जहाँ मैं हूँ, वहीं तेरा घर है! मधु, सुन रहा है?"

"माँ, आँरियेत को मैं सागरदाँड़ी ले गया था, जानती हो? विलायत जाने से पहले।"

"जानती हूँ।"

"जब मैं ईसाई बना, उससे पहले, तुम मेरे लिए नाक में नथ डाले, कोई अनपढ़ बहू लाना चाहती थीं न?"

"हाँ, चाहती तो थी!"

"उसे तो तुमने देखा नहीं, माँ! फ्रांसीसी लड़की थी। मुझसे उसने बँगला और अंग्रेज़ी सीखी। मैं उससे तुम्हारे बारे में ढेर-ढेर बातें किया करता था। वह कितनी भक्ति से भरी-भरी सुनती रहती थी। मेरी सारी रचनाएँ वह पढ़ती थी। खाना पकाना, घर-गृहस्थी के कामकाज, गाना-बजाना, वह स–ब कुछ जानती थी।"

"जानती हूँ, मोरे लाल!"

"तुम्हारा यह आवारा-घुमन्तू बेटा जब खर्च और उधार में गले-गले डूब जाता था, खूब परेशान रहता था, वह अतिशय दुःखी होती थी। लेकिन उसने किसी दिन भी कोई कड़ी बात अपनी ज़ुबान से नहीं निकाली। तुम्हारी तरह तेज़ उसमें नहीं था। वह फूल जैसी नरम और कोमल थी। मैंने क्या उसे कम दुःख दिया? बाद में अगर मैंने कुछ कहा भी, तो वह कहती थी, "छिः तुम्हारा चेहरा देखते ही, मैं स–ब भूल जाती हूँ, क्या तुम नहीं जानते?" सीता-सावित्री को मैंने सिर्फ़ पढ़कर जाना है, वह मेरी आँखों को साक्षात् दिखा गयी।"

"चल, तुझे शान्ति तो मिली, बच्चे।"

“हाँ, माँ, अपनी बेटी की तो शादी कर दी। दामाद, फ्लाएड, बड़ा भला लड़का है। मेरे दोनों बेटों को मनु देखेगा! वही उन दोनों की देखभाल करेगा।”

“घर आ जा, मधु! अब, कितनी देर करेगा?”

“घर का मतलब तो तुम हो! घर का माने तो आँरियेत!”

“तू तो “भाषा” को भी अपनी ‘माँ’ कहता है, ‘देश’ को भी अपनी ‘माँ’ कहता है। सबकुछ तो मैं ही हूँ, रे!”

“हाँ, माँ!”

“अब घर आ जा, मोरे रतन! मेरा ऊधमी बच्चा! कितना-कितना दुःख झेला तूने! अब, लौट आ, घर लौट आ, बच्चे! मेरे पास आ जा।”

“तुम मुझे छोड़कर क्यों चली गयीं?”

“तेरा मुखड़ा देखे बिना, तुझे छाती से लगाये बिना, मेरी छाती फट गयी, बच्चे, वर्ना तुझे अकेला छोड़कर भला मैं आती? अगर मैं वहाँ होती, तो क्या तुझे इतनी-इतनी तकलीफ़ झेलने देती, मोरे लाल!”

“अब तो तुम्हारे पास आ ही रहा हूँ। लेकिन, पहले...”

मन के पट पर एक-एक तस्वीर आ-आकर गुजरती रही।

सन् 1862, मार्च का महीना! जतिन ठाकुर और विद्यासागर के कहने पर, तय यह हुआ कि वे ‘हिन्दू पोइट्री’ का सम्पादन करेंगे। लेकिन वे विलायत चले गये। अधिक दिनों तक वह पत्रिका जारी रखना सम्भव नहीं हुआ।

विलायत जाने से पहले मैं आँरियेत को सागरदाँड़ी दिखा लाया। कपोताक्ष के तट पर, पर्णकुटीर में रहना, स्वर्ग में रहने के बराबर है। मैं अपने ममिहाल, काटियाड़ा भी गया। मामा ने सोने की थाली में राजभोग खिलाया। आँरियेत किस कदर भौचक्की रह गयी थी, “डार्लिंग? क्या यह सचमुच सोने की थाली है? तुम सच कह रहे हो?”

उन दिनों क्या मैं जानता था कि इतना-इतना निर्यातन भी बदा है? खिदिरपुरवाला मकान, हेम बन्द्यो के भाई हरिमोहन ने खरीद लिया। मुझे चार वर्षों तक यूरोप में ही रहना था। मैं आँरियेत और बेटे-बेटियों को यहीं रख गया। सारी ज़मीन-जमा महादेव चाटुज्जे को सौंप गया। राजा दिगम्बर मित्र सबकुछ की देखरेख करेंगे। विलायत में मुझे रुपये मिलते रहते थे और यहाँ डेढ़ सौ रुपये माह मिलते रहते।

युरोप! युरोपा! देवी युरोपा! कविता के माध्यम से राजनारायण को बता दिया कि स्वदेश को इस ढंग से विदा देनी होती है, मैंने लिखा–ओ मेरी माँ, दास को याद रखना। तुम्हारे चरणों में यही मेरी विनती है। स्मृति में मैं अमर रहूँ, माँ! मानसरोवर में सारे कमल, वसन्त-शरद में ही खिलते हैं।

लेकिन किसी ने भी अपना वादा नहीं निभाया। न मुझे रुपये दिये, न आँरियेत को। मैं सन् 1862 की जून में विलायत गया। आँरियेत बाल-बच्चों को लेकर सन् 1863 के मई महीने में मेरे पास आ पहुँची।

अपने रुपये होते हुए भी रुपये न मिलने से, विदेश में हमारी क्या बदहाली थी! उधार-देना से मैं जर्जरित हो उठा, मेरे बच्चे अनाहार रहे, एक-एक करके अपना सारा कुछ बेच-बेचकर मैं फक्कड़ हो गया। निरा फकीर! अन्त में मुझे विद्यासागर ने बचाया। उन्होंने उधार ही दिया था। उन्होंने मुझे दान तो नहीं दिया, मगर वे यह भी नहीं जानते थे कि उनका उधार मैं शोध भी कर पाऊँगा। वैसे भी उन दिनों मुझे उधार भी भला और कौन देता?

विद्यासागर! डीयर-डीयर विद्! तुम आँरियेत की फ्युनरल में नहीं आये। मुझे भी देखने नहीं आये। लेकिन उन दिनों की तरह आज भी मैं, मुसीबत में मेरे साथ खड़े होने के लिए मैं कृतज्ञ हूँ, विद्! कुछेक कविताओं से क्या तुम्हारा ऋण चुकाया जा सकता है?

सन् 1865 में मैंने किस हालत में, किन परिस्थितियों में, वर्साइ में बैठकर 'चतुर्दश पदी' लिखी थी, विद्, तुम सोच भी नहीं सकते।

लेकिन अँधेरे आकाश में तारे की तरह, काले मेघों में जैसे बिजली की कौंध, उसी तरह यूरोप के अँधेरे में, अँधेरी स्मृति में कई एक अद्‌भुत तजुर्बों की नीहारिका चिर-अम्लान रहेगी।

मैंने टेनिसन से भेंट की। विक्टर उगोके, थिओडोर, गोल्डटुकर से भी मिला। दान्ते की छठी-शतवार्षिकी उत्सव में, इटली के राजा को कविता लिखकर भेजी। राजा के मिनिस्टर ऑफ द रॉयल फैमिली ने लिखा—मेरी कविता पूरब और पश्चिम को जोड़ेगी।

उसके बाद, ज़िद तो मेरे स्वभाव में ही था। आँरियेत लोगों को फ्रांस में रखकर मैंने लन्दन से बैरिस्टरी पास की। पत्नी-बच्चों को फ्रांस में छोड़कर सन् 1867 में, मैं बार-ऐट-लॉ बनकर लौट आया।

मैंने कभी भी अपनी आय की सीमा में रहना नहीं जाना। मैं रह भी नहीं सकता था। तत्काल ही मैं यूरोप के सारे कष्ट भूल गया। मैं स्पेन्सेस होटल में ठहर गया, मिसेज हेरिंग के होटल में रहा। चन्दननगर में विला किराए पर ले लिया। बैरिस्टरी करते हुए, हज़ारों से दुश्मनी हुई, मगर मैं बैरिस्टर ही बन गया।

मैंने दोनों हाथों से रोज़गार शुरू किया और चार-चार हाथों से उड़ाता रहा। हर रोज़ पार्टी देता था, शराब में कुर्सी-मेज़ बहाता रहा, आँरियेत और बच्चों को रुपये भेजता रहा। जब मेरी आमदनी डेढ़ हज़ार रुपये थी, मेरी ज़रूरत ढाई हज़ार रुपयों तक जा पहुँची। यूरोप से मैं हज़ारों-हज़ार रुपये उधार लेकर लौटा था। कौन याद रखता है भला? मैं उधार लेता ही गया। लेकिन, हाँ, अपने रोज़गार और सम्पत्ति बेचकर, विद से लिए हुए उधार का मैंने कौड़ी-कौड़ी चुका दिया।

इस रवैये से चलते हुए, आँरियेत को मैं रुपये कैसे भेजता? सन् 1869 में वह मेरे पास लौट आयी।

मैंने तत्काल लाउडन स्ट्रीट में मकान किराये पर ले लिया। मैंने अपना मकान और बागान भी यूरोपियन स्टाइल में सजा लिया। समस्त मकान मूर्तियों, पेंटिंग्स, असवाब, झाड़-फानूस और पर्दों से सुसज्जित कर डाला। मैं तो राजा ठहरा! यह धरती, यह समूची पृथ्वी मुझे उत्तराधिकार में मिली है। उत्तराधिकार में मिला है या नहीं? मैं रुपयों का हिसाब-किताब भला क्यों करता?

उधार! उधार! चारों तरफ़ कर्ज़! उधार! बैरिस्टरी से रुपये आने बन्द हो गये। सन् 1872 के आरम्भ में मैं पंचकोट के राजा का दीवान-मैनेजर होकर, उनके इस्टेट में चला गया।

और सितम्बर में ही लौट आया। वहाँ से मुझे एक पैसा भी नहीं मिला। मुझे अन्दाज़ा हो गया कि मेरा पतन अनिवार्य है। अब न सेहत रही, शराब पी-पीकर लिवर सड़ गया, गले की आवाज़ भयंकर रूप से घरघराने लगी। मैंने दुबारा कोशिश की लेकिन बैरिस्टरी मेरे वश की बात नहीं रही।

इसलिए शराब! शराब और शराब! शराब सब कुछ भुला देने में सक्षम बना देती है। मेरे चारों तरफ़, मेरे जीवन का हर स्तम्भ टूट-टूटकर ढहने लगा–कवि यश, बैरिस्टरी, रुपये, सारा कुछ टूट-टूटकर बिखरने लगा। दिन पर दिन पानी मिलाये बिना ही निखालिस शराब पीता रहा। हाँ, मैं आत्महत्या कर रहा था।

उन दिनों बच्चों के लिए पाठ्य कविताएँ भी लिखीं, मैं जानता था, किसी दिन मेरी साहित्य-कीर्तियाँ, पुस्तक-विक्रेताओं, प्रकाशकों और मुद्रकों को अमीर बना देंगी! सिर्फ़ मुझे ही कुछ नहीं मिलेगा।

चिर-विवादित लक्ष्मी और सरस्वती को मिलाने के चक्कर में मेरी यह दुर्दशा हुई।

आखिरकार, मकान का सारा कुछ बेच-बाचकर जब बिल्कुल दिवालिया हो गया, तो मैं जयकृष्ण मुखुज्जे की लाइब्रेरी-कोठी में चला आया।

वहाँ से, बेनेपुकुर, फ्लायेड के घर पहुँच गया। वहाँ आँरियेत को रखकर, मैं यहाँ अस्पताल में, अकेला! अकेला! निचाट अकेला। इतना अकेला मैं कभी नहीं होना चाहा था।

रेबेका के बाद, आँरियेत के अलावा मैंने कभी किसी पर नज़र नहीं डाली। अपने बेटे-बेटियों के संग-साथ में मुझे बार-बार स्वर्ग मिलता रहा। मैं बेहिसाबी था! बेभाव शराब पीता था, बेहिसाब कर्ज़ लेता रहा, बेहिसाब रफ़्तार से जीता रहा। ज़िन्दगी अगर सुरा-पात्र थी, तो मैंने उसे आखिरी बूँद तक पी डाला! एक ही तो जीवन! जैसा मुझे समझ में आया, मैं जीता रहा। रही मोल चुकाने की बात? मुझ जैसा मोल भला किसने चुकाया? आनन्द? मुझ जैसा आनन्द किसे मिला? मुझ जैसी जीवनशक्ति हो, तभी तो चाहे उसे आनन्द कहो, दुःख कहो, आशा कहो, आशाभंग कहो–सबकुछ तीखी प्रचण्डता में जी पाता।

–मधु, घर आ जा!

आकुल-व्याकुल आवाज़, माइकेल को फिर सुनाई दी।

28 जून को माइकेल के अनुरोध पर रेवरेण्ड कृष्णमोहन बैनर्जी आ पहुँचे। माइकेल से कुछ देर बातचीत करने के बाद, कृष्णमोहन उठ खड़े हुए!

उन्होंने फ़्लॉएड से कहा, "कितने गहरे विश्वास के साथ उसने कहा–"मैं ईश्वर के पास जा रहा हूँ। वे मुझे आराम देंगे।"

फ्लॉएड ने कहा, "ईश्वर की क्या मर्ज़ी है, मुझे नहीं पता। लेकिन उनकी इतनी तकलीफ़ आँखों से देखी नहीं जाती।"

"बेटे-बेटियाँ कहाँ हैं?"

"अभी-अभी तो घर गये हैं। उन लोगों से भी भला क्या कहूँ? अभी उस दिन माँ चली गयीं। अब पिता भी इस हालत में..."

"हाँ, सो तो सच है!"

"समाधि के बारे में क्या कोई हंगामा होगा?"

"नहीं! नहीं! उनके प्रति सभी लोग श्रद्धा करते हैं।"

"तो फिर उनकी पत्नी की बगल में ही..."

"बेशक़! बेशक़!"

29 जून, सुबह-सुबह ही यह अन्दाज़ा हो गया कि जिस किसी पल, माइकेल चले जाएँगे।

बेटे-बेटी-दामाद, सभी लोग उनके करीब मौजूद हो गये। दोपहर एक बजे के बाद माइकेल की आँखें बन्द हो गयीं। साँसें क्षीण से क्षीणतर होती गयीं। हाथ-पाँव ठण्डे बर्फ़!

शर्मिष्ठा अपने पिता के चेहरे पर नज़रें गड़ाये, पथरायी बैठी रहीं!

अचानक वे बोल उठीं, "बप्पा ने क्या कुछ कहा?"

"नहीं तो!"

"मुझे लगा, वे कुछ कहना चाहते हैं!"

"ना तो!"

उस वक़्त माइकेल जैसे बेतहाशा दौड़ते जा रहे थे। अस्पताल से तो वे जाने कभी भाग चुके थे। उनकी माँ जो, उन्हें आवाज़ दिये जा रही थीं–"घर लौट आ, मधु!" आँरियेत पुकार रही थी–"डार्लिंग, अभी आराम का समय है।"

लेकिन जितनी जगह से पहचान थी, जितनी जगहों की जानकारी थी, माइकेल वे सब धैय्या छुए बिना भला घर कैसे लौटते? उत्तरपाड़ा की लाइब्रेरी-कोठी, लालबाज़ार का मकान, मद्रास, विशॉप्स कॉलेज, खिदिरपुर, सागरदाँड़ी!

अब वे बरगद के पेड़ तले पहुँच चुके थे। ज़रा और आगे बढ़े ही–घर! लेकिन कविता? वह कविता कहाँ है?

वह कविता कहाँ गयी, बिटिया शर्मिष्ठा? अरे, वह कविता, जो मैंने लिखी थी और फेंक दी थी? हाँ, बिटिया, तूने उठाकर सहेज लिया था? वर्ना, चल फिर से लिख ले, बेटू! बँगला में न लिख सके, तो चल, अंग्रेज़ी में ही लिख ले। तू ना लिख पाये, तो अपने गौर काका को बुला! वह बिल्कुल ठीक-ठीक लिख लेगा। सुन, बिटिया, मेरा बड़ा मन था कि वह कविता मेरी मौत के बाद...लेकिन, माँ बुला जो रही है! मेरी माँ, तेरी माँ! एक बार उन दोनों के पास चला गया, तो दोबारा लौटकर आना नहीं होगा, बिटिया! चल, लिख ले–

रुको पथिकवर, जन्म यदि तव बंग में
रुको, सुस्ताओ क्षणभर
इस समाधिस्थल में (जननी की
गोद में ज्यों शिशु लेता विश्राम)
मही-चरणों में महानिद्रा में डूबा,
दत्त कुलोद्भव कवि मधुसूदन!
जैसोर के सागरदाँड़ी, कवतक्ष तीर पर जन्मभूमि,
जन्मदाता, दत्त महामति,
राजनारायण नाम! जननी जह्नवी!

और तभी दौड़कर पहुँचने की ज़रूरत नहीं पड़ी! जाने किसके दो हाथों ने उन्हें अपनी गोद में उठा लिया। अ-हा! शान्ति! शान्ति! कैसी अद्भुत शान्ति!

डॉक्टर पामर ने कहा, “इट्स ओभर!”

सन् 1873 वर्ष! 29 जून! रविवार! समय: दो बजे!!